विषय-सूची

विषय-प्रवेश

परिचय

युग-जनित प्रवृत्तियों के फल-स्वरूप कभी-कभी साहित्य-चिन्तन की दिशाएँ बदल जाती हैं। धर्म, समाज और व्यक्ति परिस्थितियों की ऋतु में अपने विकसित होने का अवसर देखते हैं; अपने को अवरोधों से बचाने के प्रयत्न में उनका विकास चाहे जिस दिशा में हो जाय। कंटकों के झुरमुट में जिस प्रकार कोई फूल किसी संकुचित कोने से ही झाँक कर अपने अस्तित्व की सूचना देता है, उसी प्रकार पठान-शासकों के अंकुश से संत्रस्त निर्गुण काव्य अपने सारे कर्म-काण्ड समेट कर, प्रेम की अनन्यता को ही अपना अस्तित्व बनाकर पुष्पित हो सका। पठानों के आतंक का अध्याय समाप्त होने पर जब मुग़लों ने शासन की भूमि को सहिष्णुता से उर्वरा बनाया तो उसी निर्गुण सम्प्रदाय के प्रेम के वैभव में सगुण ब्रह्म का विराट् रूप निर्मित हुआ और **ब्रह्माण्ड निकाया निर्मित माया रोम-रोम प्रति बेद कहे** का उद्घोष श्रुति, स्मृति और पुराणों की सूक्तियों में प्रेम और भक्ति का कीर्तन कर सका। इसके उपरान्त जब मुग़लों ने विलास के दर्पण में अपना मुख देखकर मयूरपंखी अन्तःपुर के कलात्मक रंगों से अपना शृंगार किया तो वही प्रेम जो कभी कृष्ण की 'योगमाया' सी मुरली में राधा की आत्मा का संगीत बन गया था, लाल के 'बतरस' का 'लालच' बन गया, जिसमें गोपिका मुरली चुरा कर **सौंह करे, भौंहनि हँसे, देन कहे, नटि जाय** का अभिनय प्रस्तुत करती है। यही परवर्ती दिशा साहित्य के चिन्तन की वह दिशा है जिसे 'कला-काल' की गरिमा से मंडित किया जा सकता है।

रीति-काल अथवा शृङ्गार-काल नाम की असंगति

हिन्दी साहित्य के इतिहास में साहित्य की इस भंगिमा को 'रीति-काल' की संज्ञा दी गई है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने एक और नाम विकल्प रूप में प्रस्तुत किया है और वह है 'शृंगार-काल'। वे अपने इतिहास में लिखते हैं, "वास्तव में शृंगार और वीर इन्हीं दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता शृंगार की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई 'शृंगार-काल' कहे तो कह सकता है।"[1] मेरी दृष्टि से इस काल के दोनों ही नाम अनुपयुक्त हैं। संस्कृत काव्य-शास्त्र में 'रीति' का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में हुआ है। आचार्य वामन

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, बारहवाँ संस्करण, २०११, पृष्ठ २२३।

ने अपने 'काव्यालंकार सूत्र' में रीति की व्यवस्था **विशिष्टा पद-रचना रीतिः** कह कर की है और रीति को ही काव्य की आत्मा कह दिया है—**रीतिरात्मा काव्यस्य।** यह विशिष्ट पद-रचना काव्य के सिद्धान्तों को आत्मा की भाँति रखकर की गई। इस भाँति काव्य-सिद्धान्तों से सम्मिलित रचना ही रीति-काल के अन्तर्गत आनी चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रीति-काल में ऐसी रचना अवश्य है जिसमें काव्य के लक्षण देकर उसे स्पष्ट करने वाले पुष्कल उदाहरण हैं, अथवा प्रचुर मात्रा में पाया जाने वाला काव्य लक्षणों के उल्लेख के बिना ही लक्षणों की कल्पना पर लिखा गया है किन्तु इस रूप में रीति-काल का समस्त साहित्य नही है। डॉ० भगीरथ मिश्र ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इस नामकरण का औचित्य खोजने का प्रयत्न किया है। वे लिखते हैं—

"हिन्दी साहित्य के कुछ इतिहासकारों, विशेष रूप से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल को 'रीति-काल' की संज्ञा प्रदान करते हुए रीति को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। उन्होंने रीति या मार्ग को संस्कृत की उपलब्ध धारणा से भिन्न काव्य-रीति या काव्य-लक्षण के रूप में ग्रहण कर उस काल को रीति-काल कहा है जिसमें इस प्रकार के काव्य-लक्षण देने वाले ग्रन्थों के लिखने की प्रमुख प्रवृत्ति देखने को मिलती है। ऐसी दशा में रीति-शास्त्र (या काल ?) के अन्तर्गत केवल रीति सिद्धान्त की चर्चा करने वाले ग्रन्थ ही नहीं आते वरन् उन समस्त ग्रन्थों का समावेश हो जाता है जिनमें काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया हो, चाहे वे अलंकार के ग्रन्थ हों, चाहे रस, ध्वनि, वक्रोक्ति अथवा रीति के ग्रन्थ हों।"[1]

डॉ० मिश्र ने आचार्य शुक्ल जी द्वारा इष्ट रीति-काव्य को व्यापक दृष्टि-कोण से देख कर ही यह विवेचना की है किन्तु रीति-काव्य ही रीति-काल का समस्त साहित्य नहीं है। इसमें ऐसे भी ग्रन्थ लिखे गए जिनकी रचना स्वच्छन्द रूप से की गई। किसी वीर पुरुष को युग पुरुष मान कर उसकी ऐतिहासिकता पर प्रकाश डाला गया। बहुत से काव्य चारण काव्य के स्वरों में लिखे गए। अनेक कवियों ने सूर और तुलसी से तन्मयभाव और भावना-वैभव ग्रहण किया। केवल 'अंश' से 'पूर्ण' की परिभाषा नहीं दी जा सकती, 'जीव कि ईश समान ?' इसी प्रकार इस काल को 'शृंगार-काल' भी नहीं कहा जा सकता। स्वयं शुक्ल जी स्वीकार करते हैं कि इस काल में वीर रस की कविता भी हुई—भले ही अनुपात में वह शृंगार रस से कम हो। फिर ऐसी बात भी नहीं है कि रस-वर्णन ही इस काल में प्रधान हो जैसा डॉ० भगीरथ मिश्र भी स्वीकार करते है। आलंकारिकता भी इस युग की विशेषता रही है। केशव ने अपनी रामचन्द्रिका में रस की अपेक्षा अलंकार को ही अधिक प्रमुखता

---

१. हिन्दी साहित्य—द्वितीय खंड—(भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग-१९५९), पृष्ठ ४२२।

प्रदान की है। वे तो काव्य के इतने बड़े कलाकार हैं कि एक अलंकार-चित्र के भीतर अनेक अलंकारों की झाँकियाँ प्रस्तु करते हैं। उनकी भाषा कामधेनु होकर मनमाने अर्थ देती है। उक्ति-चमत्कार द्वारा पात्रों की प्रभावोत्पादकता अमोघ बन जाती है और वाग्वैदग्ध्य के साथ मनोविज्ञान के अनेक स्तर कदली पत्रों के पत्रान्तर के कोमल और स्वच्छ अर्भ-पत्रों का संकेत करते हैं। फिर श्लेष और यमक के तटों में गुण और वर्ण-मैत्री की तरंगें 'ध्वनि' के साथ गुंजित होती हैं। इस काल की व्रज-भाषा जैसे किसी मृगनयनी के चितवन का विलास है और बिहारी ने न जाने कितने रहस्य पूर्ण ढंग से कह दिया है :—

वह चितवन औरै कछू, जेहि बस होत सुजान।

अतः श्रृंगार को कवियों ने भले ही 'रसराज' कहा हो किन्तु अन्य रसों के साथ अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि आदि भी तो इस काल में नाना रूपों में अवतरित हुए। इन सबका निषेध करते हुए केवल रस के आधार पर इस काल को **श्रृंगार-काल** कहना उचित नहीं।

इस काल में नीति-काव्य की रचना रीति-काव्य से कम महत्वपूर्ण नहीं। जीवन को व्यवस्थित रखने के लिए सम्यक् अर्थ-नीति, धर्म-नीति, समाज-नीति, राज-नीति तथा शकुन आदि का प्रचुर साहित्य निर्मित हुआ। साथ ही साथ अन्योक्ति तथा दृष्टान्त के न जाने कितने भेद इस नीति-साहित्य में परिलक्षित हुए। इस भाँति उपर्युक्त विवेचन के आधार पर इस काल को **रीति-काल** अथवा **श्रृंगार-काल** कहना असंगत है।

कला-काल नाम की सार्थकता

इस काल को 'कला-काल' नाम देना समीचीन ज्ञात होता है। रीति-काव्य और श्रृंगार-काव्य के साथ इस काल में इतनी अधिक प्रवृत्तियाँ, विचार-धाराएँ और ललित शिल्प की साधनाएँ दृष्टिगत होती हैं कि उनमें कला का प्राञ्जल रूप अनायास ही दृष्टिगत होता है। इस काल की विचार-धारा समझने के लिए बाह्य और अंतरंग परिस्थितियों पर विचार करना आवश्यक है।

(क) बाह्य परिस्थितियाँ

युग में जिन विचार-धाराओं का प्रवाह होता रहता है वे न्यूनाधिक मात्रा में साहित्य को प्रभावित किये बिना नहीं रहतीं। कवि जन-रुचि से भी प्रभावित होता है क्योंकि वह स्वयं जनता का प्रतिनिधि हुआ करता है। यदि उसने जनता का प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं किया तो वह यशः प्रार्थी होने के कारण जनता की भावना के प्रति जागरूक अवश्य रहेगा। वह राज्याश्रित होते हुए भी जनता की उपेक्षा नहीं कर सकता। साथ ही साथ परम्परा से आने वाली विचार-धारा यदि युग के अनुकूल

नहीं हुई तो वह उसका संशोधन भी करेगा । प्रकारान्तर से साहित्य के निर्माण में बाह्य परिस्थितियाँ अवश्य ही कार्य किया करती हैं ।

ये बाह्य परिस्थितियाँ सामान्य रूप से राजनीति, धर्म और समाज के माध्यम से कार्य करती हैं । इन पर क्रमशः विचार करना चाहिए ।

राजनीति—अकबर के समय से राजनीति ने जनता को प्रभावित करना आरम्भ किया । अकबर ने दूरदर्शिता से अपनी राजनीति को एक नया मोड़ दिया क्योंकि उसने शासन के कार्यों में मुसलमानों के साथ हिन्दुओं को भी नियोजित किया । इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच जो अविश्वास और असमानता की अग्नि धधक रही थी वह अकबर की सहिष्णुता के जल से बुझ गई और दोनों में सद्भावना के अंकुर फूट निकले । बड़े-बड़े राजों और महाराजों को उच्च पदों पर प्रतिष्ठित कर अकबर ने जनता का विश्वास पाने का भी मार्ग खोजा । सन् १५६२ में उसने हिन्दुओं पर लगा हुआ 'जज़िया' कर ही उठा दिया । भले ही 'जजिया' कर उठाने की प्रेरणा उसे राजपूत-कन्याओं से विवाह करने के उपरान्त प्राप्त हुई हो, तथापि सामान्य जनता इस अपमान-जनक कर से मुक्ति पा कर शासन के प्रति कृतज्ञ अवश्य हुई । इसके उपरान्त अकबर ने अपनी सहिष्णुता का एक प्रमाण और दिया । हिन्दू तीर्थ-यात्रियों से लिया जाने वाला कर भी उसने उठा दिया । भले ही तीर्थ-यात्रा अन्धविश्वास पूर्ण हो किन्तु प्रभु के सेवा-मार्ग में किसी प्रकार की बाधा डालना अनुचित है ।[1]

इस सहिष्णुता की भूमि पर जहाँगीर और शाहजहाँ ने कला और विलास का नन्दन कानन सुसज्जित किया ।

कोष में स्वर्ण और रत्नों की राशि आकाश के नक्षत्रों को चुनौती देती थी । कला की जो उपासना अकबर के समय से प्रारम्भ हुई थी, वह अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर और भी उभर उठी । संगीत, चित्र, नृत्य और वास्तु कला जैसे पूर्णिमा के चन्द्र के शीश पर सुसज्जित होने के लिए बढ़ रही थी । जहाँगीर की वार्षिक आय

---

1. An almost immediate result of this alliance with the Rajput Princess was the abolition (in 1562) of the Jazia, or Polltax which Mohammadan Conquerors levied on unbelievers in accordance with the law of Islam. His next act was to discontinue the tax upon Hindu Pilgrims, on the ground that however superstious the rites of pilgrimage might be, it was wrong to place any obstacle in the way of a man's service to God No more popular measures could have been enacted. The Jazia were an insult as well as a burden and both taxes bore heavily on the poor and were bitterly resented.

Mediaeval India under Mohammadan Rule (712-1764)
Stanley Lane Poole, Page 252.

पचास करोड़ रुपये थी। राजकोष में असंख्य स्वर्ण-पात्र तथा रत्न-समूह थे। पाँच सौ तो मदिरा के स्वर्ण चषक थे, उनमें से कुछ तो सम्पूर्ण माणिक को तराश कर बनाए गए थे। राजदरबार के प्रतिदिन का खर्च पचास हज़ार रुपये था और अन्त:पुर के प्रतिदिन का खर्च तीस हज़ार रुपये। अपने जन्म दिन १ सितम्बर को बादशाह जहाँगीर अपना तुलादान करता था। पहले वह रुपयों से तौला जाता था। उसका वज़न नौ हज़ार चार सौ बारह रुपया था। इसके उपरान्त वह स्वर्ण और रत्न, वस्त्र, अन्न और घी से तौला जाता था और यह सब राशि भिखारियों और गरीबों को बाँट दी जाती थी। सुन्दरी सम्राज्ञी नूरमहल ने जहाँगीर की सौन्दर्य-लिप्सा और कला-प्रियता में और भी योग दे दिया था। वह जहाँगीर के हृदयासन पर ही नहीं, भारत के स्वर्ण-सिंहासन पर भी बैठकर राजनीति का संचालन करने में समर्थ थी।

शाहजहाँ का गम्भीर व्यक्तित्व राजसिंहासन के दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर रतिराज की भाँति आकर्षक हो गया। उसने मुमताज महल के विरह को साकार करने की भावना से जिस ताजमहल का निर्माण कराया वह 'समय के कपोल पर अश्रु बिन्दु' बन कर अमर हो गया। १८ वर्षों की निरन्तर कला-साधना के फल-स्वरूप ताजमहल किसी अलंकार शास्त्र से कम नहीं था जिसके प्रत्येक दृष्टि-पथ में सौन्दर्य था। शाहजहाँ अपनी वार्षिक आय (८० करोड़ रुपये) से जितने सौन्दर्य और कला के प्रसाधन एकत्र कर सकता था, उतने उसने निस्संकोच किये। जो मयूर-सिंहासन स्वर्ण और रत्नों की प्रतिद्वन्द्विता से निर्मित हुआ था उसका मूल्य ट्रैवरनियर यात्री के अनुमान से दस करोड़ रुपयों से अधिक था। जब भारत की राजनीति वास्तु, चित्र, संगीत और नृत्य के माध्यम से कला की अनवरत साधना कर रही थी और समस्त वातावरण राग से अनुरंजित हो रहा था तब यह कैसे संभव था कि काव्य भी कला की उपासना में रत न होता और मयूर-सिंहासन के रत्नों की भाँति अलंकार भी काव्य में विजड़ित न हो जाते! उस समय राजकीय भाषा फ़ारसी थी। अकबर के समय से ही फ़ारसी में सौष्ठव लाने का यत्न प्रारम्भ हो गया था। 'अबुल फ़ज़ल ने क्लिष्ट तथा शब्दालंकृत भाषा के विकास को ऐसे स्तर तक पहुँचा दिया था कि जिसकी नक़ल करना असंभव था। फिर भी शाहजहाँ ने अपने समय के इतिहासकारों को यही आदेश दिया कि वे अबुल फ़ज़ल की शैली में अपने ग्रन्थों की रचना करें। जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में जो रचनाएँ फ़ारसी भाषा में लिखी गईं उनमें भावों की अपेक्षा शब्दों के जड़ाव पर अधिक ध्यान दिया गया है। जिस प्रकार आभूषण रत्न-जटित होते थे और इमारतों में सुन्दर पच्चीकारी का काम होता था, उसी प्रकार फ़ारसी साहित्य में अलंकार का आधिक्य हुआ। कवि तथा गद्यकार की प्रशंसा इसी पर निर्भर थी कि उसको उसके शब्द-विन्यास में कितना चातुर्य प्राप्त है।[१] यदि समकालीन हिन्दी काव्य फ़ारसी भाषा

१. हिन्दी साहित्य—द्वितीय भाग (सांस्कृतिक पृष्ठभूमि) डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना (भारतीय हिन्दी परिषद्)—पृष्ठ ६६।

और साहित्य की प्रेरणा से अलंकारमय हो कर अधिक कलात्मक हो गया, तो इसमें आश्चर्य ही क्या !

धर्म—सत्रहवीं शताब्दी में धर्म और उसके अन्तर्गत सम्प्रदायों का जो विकास हुआ, वह उसी प्रकार है जैसे वसन्त ऋतु में रसाल वन मंजरित हो जाता है। कोकिल की भाँति प्राणों की पुकार अपने प्रियतम का आवाहन करने लगती है। राम और कृष्ण भक्ति के सम्प्रदायों का वैभव इतनी विपुलता के साथ विवर्द्धित हुआ कि भक्तों ने अलौकिक के साथ सभी लौकिक सुख भी प्राप्त कर लिए। **घर-घर माँगे टूक पुनि, भूपति पूजे पाय** 'जैसे प्रसंग तुलसीदास जैसे संत के जीवन में भी आए। उन्होंने नाम के प्रभाव को भी इतना समझा कि **हौं तो सदा खर को असवार तिहारोई नाम गयंद चढ़ायो।** यह लौकिकता केवल कवि की भावना ही नहीं थी, तत्कालीन साधु और सिद्धों के परिहासपूर्ण मनोविज्ञान की छाया भी थी जो उन्होंने कवितावली के एक सवैया में प्रतिबिम्बित कर दी:—

बिन्ध्य के बासी उदासी तपोव्रत धारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम तीय तरी तुलसी सो कथा सुनि भे मुनि वृन्द सुखारे॥
ह्वै हैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे॥[1]

श्री वल्लभाचार्य ने मूर्तियों के शृंगार पर बल दिया था जिसका आगे चल कर यह परिणाम हुआ कि श्रीकृष्ण का बिना अलंकारों के ध्यान करना भी असंभव हो गया। अलंकारों के साथ-साथ शरीर के विभिन्न भागों के सौन्दर्य का भी वर्णन होने लगा। महाकवि सूरदास ने रूपकातिशयोक्ति अलंकार के बहाने राधा का नख-शिख केवल सौन्दर्य का निकष रख कर ही किया :—

अद्भुत एक अनुपम बाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीडत तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर सर पर गिरिवर तापर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसै ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग॥
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, तापर सुक-पिक मृगमद काग।
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मनिधर नाग॥
अंग-अंग प्रति और और छबि, उपमा ताको करत न त्याग।
सूरदास प्रभु पियहु सुधारस मानौ अधरनि को बड़ भाग॥[2]

परिणामस्वरूप कितने ही भक्ति और कला-काल के कवि नख-शिख को लेकर अपने आराध्य की वन्दना करने लगे। राधा की त्रिवली की शोभा कल्पना के

१. कवितावली—अयोध्याकाण्ड, २९वाँ सवैया।
२. ब्रज माधुरी सार, (वियोगी हरि) पृष्ठ २५-२६।

द्वारा कवि ने निम्न प्रकार से प्रस्तुत की :—

एक कहैं सुखमा लहरैं, मन के चढ़िबे की सिढ़ी यक पेखैं।
कान्ह को टोनौ कर्यो कछु काम कवीश्वर एक यही अवरेखैं।।
राधिका की त्रिवली को बनाव विचारि-विचारि यही हम लेखैं।
यासी न और न और न और है, तीन खचाई दई दई रेखैं।।[1]

इस प्रकार न जाने कितने उदाहरण दिये जा सकते हैं।

सगुण सम्प्रदाय की बात तो दूर है, निर्गुण सम्प्रदाय में भी न जाने कितने पंथों की कल्पना की गई। दादू पंथ, मलूकदासी पंथ, सतनामी सम्प्रदाय, चरणदासी, गरीबदासी, यारी आदि अनेक सम्प्रदाय अपने-अपने दृष्टिकोणों की भूमिका में विचारों की समृद्धि के सूचक है। सिद्धान्तों में समान होते हुए भी प्रेम और भक्ति के जो नये-नये पार्श्व उद्घाटित हुए, वे विचार-वैभव के परिणाम-स्वरूप ही है। यदि बैराग्य की ओर शिष्यों का मन आकृष्ट करना है तो ब्रह्म के आकर्षण का ऐसा चित्र खींचा जाता है कि वह वियोग में संयोग की झाँकी की भाँति कबीर से एक क़दम आगे ज्ञात होता है। यारी साहब कहते हैं :—

बिरहनी मंदिर दियना बार।
बिन बाती बिन तेल जुगति सों बिन दीपक उजियार।।
प्रानप्रिया मेरे गृह आयो, रचि रचि सेज सँवार।।
सुखमन सेज परम तत रहिया, पिया निरगुण निरकार।
गावहु री मिलि आनंद मंगल, यारो मिलि के यार।।[2]

इस भाँति धर्म के विविध अंगों के निरूपण में विचारों की श्रेणियाँ कल्पलता की वल्लरियों की भाँति हृदय पर छा जाती हैं और उनमें प्रेम और भक्ति के सुगंधित पुष्प प्रस्फुटित हो जाते हैं। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि धर्म के विकास में भावनाएँ कल्पनात्मक शैली में ही जनता के समक्ष उपस्थित होने लगी थीं और विविध धर्मों के क्रीड में कला निवास करने लगी थी।

समाज—मध्यकालीन मुग़ल शासकों ने यद्यपि राजनीति के क्षेत्र में हिन्दू और मुसलमानों को एक ही स्तर पर लाने का प्रयत्न किया था और वैवाहिक सम्बन्धों के स्थापित होने पर धार्मिक सहिष्णुता को प्रश्रय मिला था तथापि सामाजिक दृष्टि से हिन्दू और मुसलमान अपने-अपने आचारों में स्वतंत्र और निरपेक्ष थे। अकबर के ही शासन-काल में मानसिंह का सम्बन्ध राज-परिवार से होने पर महाराणा प्रताप ने मानसिंह के साथ भोजन करने में अपना अपमान समझा था। इस भाँति हिन्दू समाज की व्यवस्था यद्यपि मुग़ल काल में जर्जर हो रही थी फिर भी सामाजिक मर्यादा किसी न किसी रूप में स्थिर थी। इधर जब राजनीति और धर्म में उदार मनोवृत्ति ने प्रवेश किया तो समाज भी अपने विस्तार और विवेक में

१ काव्य प्रभाकर, पृष्ठ २७६।
२. संत सुधा सार—(वियोगी हरि) दूसरा खंड, पृष्ठ ७०।

उदार होने लगा। कला के विकास में हिन्दू और मुसलमान दोनों ने ही योग दिया। भारतीय संस्कृति के उत्थान के सम्बन्ध में लिखते हुए डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना ने लिखा है[१]—'सीकरी के निर्माण में यदि सम्राट् की कल्पना ने योग दिया तो उसकी रूपरेखा को पत्थर के माध्यम से ढालने का श्रेय हिन्दू-मुस्लिम कारीगरों के सामूहिक परिश्रम को है...इनकी रचनात्मक प्रतिद्वंद्विता का परिणाम भारतीय संस्कृति के उत्थान के लिए हितकर ही सिद्ध हुआ। वास्तुकला ने प्रगतिशील दिशा में कदम उठाया। शिल्पकार बन्धनों से मुक्त होकर अपने व्यक्तित्व को स्पष्ट करने में लग गया जिससे कला निखरने लगी। यदि हम सत्रहवीं शताब्दी ई० की सांस्कृतिक रूपरेखा पर विहंगम दृष्टिपात करें तो हमारे सामने नाना प्रकार की धारणाओं से रँगा हुआ रंग-बिरंगा चित्र प्रस्तुत होता है। समस्त वातावरण में सामान्य रूप से शासक वर्ग का प्रभाव स्पष्ट है। यदि एक ओर भोग-विलास की प्रवृत्ति ने जोर मारा तो दूसरी ओर ललित कलाओं का उत्थान तथा संरक्षण भी हुआ।'

इसका परिणाम यह हुआ कि सामाजिक और नैतिक जीवन का स्तर आदर्शों की ओर अग्रसर तो नहीं हुआ किन्तु वह विलास और वैभव के नाना उपकरण खोजने में व्यस्त हो गया। उस काल की सामाजिक प्रवृत्ति का निरूपण निम्नलिखित सवैये से हो सकता है:—

बैठी तिया गुरु लोगन में, रति में अति सुन्दर रूप बिसेखी।
आयो तहाँ मतिराम सो जामैं मनोभव तें बढ़ि कांति उरेखी॥
लोचन रूप पियोई चहैं अस लाजनि जात नहीं छबि पेखी।
नैन नवाय रही हिय माल में लाल की मूरति लाल में देखी॥

समाज की विलासिता कला की कसौटी बन गई थी। इस भाँति यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि राजनीति, धर्म और समाज अपने-अपने क्षेत्र में कलात्मक दृष्टिकोण का निर्माण करने में व्यस्त थे।

(ख) आन्तरिक परिस्थितियाँ

युग की परिस्थितियों के फलस्वरूप भाषा और साहित्य में भी ऐसी प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही थीं जो नवीन प्रयोगों और नवीन विषयों की ओर अग्रसर हो कर जीवन की बहुमुखी अभिव्यंजना में सहायक हो रही थीं। पहले इस दृष्टि से भाषा और साहित्य पर विचार करना चाहिए।

खड़ी बोली

यों तो अमीर खुसरो ने तेरहवीं शताब्दी के अन्त में खड़ी बोली काव्य का

१. हिन्दी साहित्य, द्वितीय भाग—(भारतीय हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद), पृष्ठ ६०।

आरम्भ कर दिया था किन्तु कुछ विद्वान् अमीर खुसरो के काव्य को प्रामाणिक नहीं मानते। राहुल सांकृत्यायन खुसरो के समकालीन फ़ारसी इतिहासकारों द्वारा प्रयुक्त राजपूत के लिए 'राउत' शब्द पाते हैं। खुसरो ने 'राउत' शब्द का प्रयोग नहीं किया इसलिए वे खुसरो की भाषा को प्रामाणिक नहीं मानते। लेकिन विचारणीय यह है कि खुसरो साहित्यकार थे, इतिहासकार नहीं। ऐसी स्थिति में यदि खुसरो जनभाषा का यह शब्द नहीं लिखते तो उनकी भाषा ही अप्रमाणिक है, ऐसा सोचना समीचीन नहीं है। खुसरो फ़ारसी के विद्वान् थे, उनकी रुचि परिष्कृत थी और इसलिए उनकी भाषा में खड़ी बोली का परिष्करण होना स्वाभाविक है।

दखनी

अमीर खुसरो को तेरहवीं शताब्दी का कवि मानने पर भी, उनकी रचना से (मात्र मनोरंजन साहित्य होने के कारण) खड़ी बोली साहित्य को प्रेरणा प्राप्त नहीं हो सकी। दिल्ली के शासकों ने जब इस देश के भिन्न-भिन्न भागों पर अधिकार प्राप्त किया तो उनके सिपाहियों के साथ खड़ी बोली देश के विविध भागों में पहुँची। दक्षिण में इस खड़ी बोली कविता का वास्तविक विकास हुआ। इस खड़ी बोली का विकास दक्षिण में होने के कारण इसे 'दकनी' या 'दखनी' नाम मिला। इस 'दखनी' का महत्व इसलिए है कि 'देहरी दीपक' की भाँति जहाँ इसने खड़ी बोली साहित्य को सँवारा, वहाँ इसने उर्दू साहित्य के निर्माण की संभावनाएँ उत्पन्न कीं।

यद्यपि इस दखनी का प्रारम्भ विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी से ही हो गया था जब गेसू दराज बन्दा नवाज, शाह मीराजी, वजही, कुतबी, सनअती, निशाती आदि कवियों ने इनमें भाषा के सौन्दर्य के साथ सूफ़ी संप्रदाय के सिद्धान्तों और तत्सम्बन्धी भावनाओं को व्यक्त किया था, तथापि इस भाषा के सौन्दर्य का निखार वस्तुतः सत्रहवीं शताब्दी में हुआ जब नसरती, वली दकनी, हाशिम अली, तुराब दकनी ने इसे सरस भावनाओं से सुसज्जित किया। नुसरती ने जो 'गुल्शने इश्क़' लिखा है उसकी कुछ पंक्तियाँ देखिए :—

टले दिन तो हर क्यों सहेल्यां के साथ।
पड़े पन[1] बजरसिल[2] हो सीने पे रात॥
जरीना[3] अगिन तन पे सारे लगै।
गुलाँ[4] सेज के सब अँगारे लगै॥
चँदर मुंज उपर जह्र का हुआ बाग।
देवे हर सितारा मेरे दिल पै दाग॥
× × ×

१. किन्तु। २. वज्रशिला। ३. एक आभूषण विशेष। ४. फूल।

हुआ रंग मुंज जाफ़रानी[1] क़रार।
सुरज हँस पड़े देख बे इख़्तियार॥
जो देखूं निझा[2] तो दिसे नैन में।
जो बोलूं बचन तो बसे बैन में॥ (गुल्शने इश्क़)

वली दकनी की पंक्तियाँ देखिए:—

लगी है लगन तुम सों छुड़ा कौन सकेगा। है किसमें यह क़ुदरत।
अजब मुजकुं वतन अपने ले जा कौन सकेगा। कर दिल सों रफ़ाकत॥
है नक़्श किनारी का तेरे जामे के ऊपर। ऐ हिन्द के बाँके।
दामन कुं तेरे हाथ लगा कौन सकेगा। नें जोर नें ताकत॥

हाशिमअली ने हुसेन के बेटे असगर की मृत्यु पर उसकी माँ का विलाप निम्न प्रकार से चित्रित किया है:—

हाय! क्यों रूठ कर गया मुजसों,
मेरे प्यारे के तें मनाती रही।
भूल क्यों तूं चला मया मेरी,
'आ रे असगर' तुजे बुलाती रही।
मैं सुलाती थी जब लगा छाती,
आँचल अपना तुझे उढ़ाती रही।
रात दिन मैं कभूं न दी रोने,
करके बातों तुझे हँसाती रही।
था बरसगाँठ का तुझे अरमान,
लाल जामाँ तेरा सिलाती रही।
कासिम आया है जब मियाने कूं,
मैं तमाशा तुजे दिखाती रही।
ल्हो मरा क्यों तेरा चँदर मुख है,
जिसकूं हाथों से मैं बुलाती रही।
दूध पीता मेरा गया बाले,
गम सों छाती मेरी भर आती रही।
तुज कूं भाती न थी अँधारी रात,
तेरी ख़ातिर दिवा जलाती रही।

तुराब दखनी ने लोकगीतों के स्वर में अपना रिसाला 'बारा-बहार' लिखा। उसमें एक सुन्दरी का वर्णन देखिए:—

सुना हूँ गुलशनाबाद एक नगर था,
वहाँ एक महजबीं गुलरू का घर था।

---

१. केसर। २. ध्यानपूर्वक।

निहायत हुस्न में औतार थी ओ,
कुल पंचार में खूंख्वार थी ओ।
अथी यों पाक दामन पारसा नार,
नमाजां पंच वक्तां होर जिक्र चार।
कभी नागा नहीं करती थी अक्सर,
चतुर सब औरतों में थी बिचित्तर।

× × ×

ऊँचा घूंघट न सारा मुँह को खोले,
न बातां शोखमिल शोखियाँ सूं बोले।
व लेकिन सरोकद नाजुक बदन थी,
सकल खूबां मने जादू नयन थी।
कमान अब्रू निगाह खंजर पलक तीर,
अदा सैफे दुधारा, जुल्फ जंजीर।
सरोपा नाजनी दिलदार दिलबर,
बला थी, जुल्म थी, जालिम, सितमगर।
कहाँ लग उस परीरू को मैं सराऊँ,
दिले आशिक सिरा कर क्यों जलाऊँ।

इस भाँति सत्रहवीं शताब्दी और उसके अनन्तर दखनी भाषा विशेष उत्कर्ष से दक्षिण में प्रगति कर रही थी।

उर्दू

उर्दू के साहित्यकार अमीर खुसरो को ही उर्दू का प्रथम कवि मानते हैं। इसका कारण यह है कि अमीर खुसरो ने ही सर्व प्रथम फ़ारसी शब्दों का प्रयोग भाषा में कर उर्दू को साहित्यिक महत्व प्रदान किया। किन्तु मेरी दृष्टि से अमीर खुसरो खड़ी बोली हिन्दी (कौरवी जनपदीय भाषा) या हिन्दवी के प्रथम कवि हैं। उस समय दिल्ली, मेरठ (कौरवी जनपद) की भाषा पर फ़ारसी और अरबी का प्रभाव पड़ने लगा था और उनके शब्द जनपदीय भाषा में अवतरित होने लगे थे। इस भाँति यदि फ़ारसी अरबी शब्द मिश्रित खड़ी बोली हिन्दी या हिन्दवी में पहेली या मुकरी साहित्य ही अमीर खुसरो ने लिखा तो वह किसी प्रकार उर्दू साहित्य नहीं कहा जा सकता। अमीर खुसरो ने स्वयं कांव्य में **'हिन्दवी'** या **'हिन्दी'** शब्द का प्रयोग अपने कोश-ग्रन्थ 'ख़ालिक़बारी' में किया है :—

मुश्क काफूरस्त कस्तूरी कपूर।
हिन्दवी आनन्द शादी वो सुरूर॥
संग पाथर जानिए बरैकन उठाव।
अस्प मीरां हिन्दवी घोड़ा चलाव॥

मूश चूहा गुरबा बिल्ली मार नाग ।
सोजनो रिश्ता व हिन्दी सुई ताग ।। आदि

यदि खुसरो की काव्य-भाषा उर्दू होती तो उसका विकास स्वयं खुसरो के समय से हुआ होता किन्तु आलमगीर औरंगज़ेब के समय तक उर्दू काव्य का कोई विशिष्ट इतिहास दृष्टिगत नहीं होता। अरबी, फ़ारसी के शब्द जन-साधारण की भाषा में अवश्य प्रचलित हो गए थे[1] और स्थानीय बोलियों के काव्य में भी उनका प्रयोग होने लगा था। मलिक मुहम्मद जायसी, सूर और तुलसीदास के काव्य में अनेक अरबी और फ़ारसी शब्दों का प्रयोग है किन्तु उनके काव्य का उर्दू से कोई सम्बन्ध नहीं है। उर्दू के इतिहासकार उर्दू साहित्य के विकास की दूसरी कड़ी दखनी हिन्दी से भी जोड़ते हैं। लेकिन यह स्पष्ट है कि हिन्दी या हिन्दवी जो दिल्ली से विजय के अभियान में दक्षिण पहुँची थी, वह दखनी भाषा है और सूफ़ी धर्म के नेताओं के विचारों का माध्यम बन कर वह साहित्यिक रूप में चमक उठी। कहना यह चाहिए कि खड़ी बोली हिन्दी या हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ तो अमीर खुसरो के काव्य में हुआ और विकास दक्षिण के सूफ़ी कवियों की दखनी शैली के काव्य में। हिन्दवी और दखनी एक ही काव्य भाषा के दो नाम हैं।

वस्तुतः उर्दू काव्य का प्रारम्भ तो तब होता है जब दखनी (दूसरा नाम—रेख़ता) के कवि वली दक्षिण से सन् १७२२ (संवत् १७७९) में दिल्ली आए। वली की भाषा हिन्दवी भाषा तथा सूफ़ी सिद्धान्तों की प्रतिनिधि कविता थी। उसमें यद्यपि फ़ारसी शब्द थे तथापि वे देशी शब्दों के लिए आभूषण का कार्य करते थे। हिन्दवी शब्दावली का निखार इतना आकर्षक और सुष्ठु था कि वली के आगमन से दिल्ली के काव्य-क्षितिज पर वास्तव में लालिमा का आविर्भाव हो गया। दिल्ली

१. उसी समय में राजा टोडरमल ने एक बड़ा काम किया जो उर्दू के प्रचार के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ। देश के माल विभाग के हिसाब पहले देशी भाषा में लिखे जाते थे जिनको इस विभाग के मुसलमान पदाधिकारी अच्छी तरह नहीं समझते थे और हिसाब की जाँच पड़ताल में उन्हें विवश होकर अनुवादकों की सहायता लेनी पड़ती थी। और इस प्रकार देशी हिसाब लिखने वालों और विदेशी पदाधिकारियों के बीच एक खाई रहती थी। इसे राजा टोडरमल ने इस प्रकार दूर किया कि मुसलमान पदाधिकारियों को हिन्दी भाषा और हिन्दू हिसाब लिखने वालों को फ़ारसी सीखने की आज्ञा दी। परिणाम यह हुआ कि फ़ारसी भाषा की शिक्षा नौकरी और उन्नति प्राप्त करने वालों के लिए बहुत आवश्यक हो गई। किसी प्रकार की उन्नति और दरबार में प्रतिष्ठा बादशाह की भाषा जाने बिना सम्भव न थी। टोडरमल ने आज्ञा दे दी कि माल विभाग में जो लोग नौकरी करना चाहें उनके लिए फ़ारसी भाषा जानना अनिवार्य है। अतएव जिस बात का आरम्भ अकबर

की जनता के हृदय में भी वली के काव्य के प्रति प्रबल आकर्षण व्याप्त हो गया और दिल्ली के पद्य लेखक वली का अनुकरण करने लगे।[१] इस समय एक महत्व-पूर्ण घटना घटित हो गई। उस घटना से हिन्दवी के वैभव को आघात लगा और उर्दू के काव्य की भूमिका तैयार हुई। वह घटना थी दिल्ली के सूफ़ी शेख शादुल्लाह 'गुलशन' से वली की भेंट। शेख शादुल्लाह ने वली को परामर्श दिया कि फ़ारसी में जो साहित्य का मोहक और सरस भंडार है, उसे ही अपनी भाषा में ले आना चाहिए। फ़ारसी उस समय दरबार की भाषा थी, इसलिए उर्दू तभी दरबार की परिष्कृत रुचि द्वारा सराही जा सकती है जब उर्दू फ़ारसी के धरातल पर आ जाय। इसके लिए फ़ारसी के समस्त आदर्शों और समस्त मान्यताओं को यथावत् उर्दू में ले लेना चाहिए। उर्दू की उन्नति और शिष्ट समाज द्वारा उसकी स्वीकृति के लिए फ़ारसी का अनुकरण आवश्यक है।

वली इस परामर्श से प्रभावित हुए और उन्होंने अपनी कविता का रूप ही बदल दिया। फ़ारसी काव्य की परम्पराएँ, विचार-धाराएँ, अलंकारिता आदि को स्वीकार करते हुए उन्होंने फ़ारसी ग़ज़ल के अनुकरण पर उर्दू में भी ग़ज़ल लिखने का 'बिसमिल्लाह' किया। श्री मसिहुज़्ज़मा लिखते हैं कि 'वली तो यह बदला हुआ रंग दिखा कर दिल्ली से चले गए परन्तु दिल्ली वालों को उर्दू कविता का यह नया रूप बहुत भाया और देखते ही देखते यहाँ के लोग इसी रूप में कविता लिखने लगे।'[२]

जो कवि फ़ारसी से परिचित थे, उन्होंने ही उर्दू काव्य का श्रीगणेश किया। उम्मेद, बेदिल, आरज़ू आदि उर्दू के प्रारम्भिक कवि थे जिन्होंने दिल्ली की भाषा को 'उर्दू-ए-मुअल्ला' का पद देकर समस्त उत्तरी भारत में फैला

के समय में हुआ था वह शाहजहाँ के शासन काल में अपनी पूर्णता को पहुँची और अब भाषा इस योग्य हो गई कि वह साहित्यिक कार्यों के लिए व्यवहार में आ सके।

उर्दू साहित्य का इतिहास—(पृष्ठ २१-२२) श्री रामबाबू सक्सेना।

१. औरंगज़ेब के जमाने से दिल्ली के कवियों की कविताएँ मिलती हैं और हमारे पास इसके स्पष्ट प्रमाण मौजूद हैं कि वली जब सैर को दिल्ली आए तो यहाँ शेर व शायरी का रिवाज था। इस समय के कवियों में फ़ायज़ देहलवी और जाफ़र जटल्ली के दीवान छपे हुए हैं जिनको देख कर यह साफ़-साफ़ पता चल जाता है कि वली के असर से पहले दिल्ली की उर्दू कविता भिन्न थी। फ़ायज़ के दीवान में ब्रजभाषा की तरह स्त्री की ओर से प्रेम प्रकट किया गया है। वे पुरुष की उपमा चाँद से और स्त्री की उपमा चकोर से देते हैं, बालों के जूड़ों को नागिन और आँखों को कटारी कहते हैं।

उर्दू साहित्य—श्री मसीहुज़्ज़मा (हिन्दी साहित्य, द्वितीय भाग—पृष्ठ ५९३)।

२. वही, पृष्ठ ५९३।

दिया। वली के काव्य में ईहाम (श्लेष) का बहुत महत्त्व था और उनके अनुकरण कर्त्ता आबरू, यकरंग, शाह हातिम आदि में 'ईहाम' का प्रयोग बड़े कौशल से हुआ है किन्तु इनके बाद के कवियों ने दखनी के बहुत से मुहावरों और शब्दों को निकाल कर उनके स्थान पर फ़ारसी शब्दों को अपनाया और इस भाँति देशी शब्दों की अपेक्षा विदेशी शब्दों को स्वीकार करते हुए उन्होंने उर्दू को हिन्दवी या दखनी से बहुत दूर हटा दिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह काट-छाँट बड़ी योग्यता और सूक्ष्म दृष्टि से की गई किन्तु इस काव्य को जैसे जन्म-भूमि से निर्वासित ही करने का प्रयत्न किया गया।

कालान्तर में उर्दू काव्य में बहुत बड़े-बड़े कवि हुए जिन्होंने हिन्दी काव्य के समानान्तर प्रेम और विरह के बड़े आकर्षक चित्र उपस्थित किये। उर्दू के प्रमुख कवियों में मीर सौदा, ज़ौक़ और ग़ालिब बहुत प्रसिद्ध हैं।

मीर

मुँह तका ही करे है जिस-तिस का।
हैरती है य' आईना किस का॥
शाम से कुछ बुझा-सा रहता है।
दिल हुआ है चिराग़ मुफ़लिस का॥

सौदा

दिल मत टपक नज़र से कि पाया न जायगा।
जूँ अश्क फिर ज़मीं से उठाया न जायगा॥
ज़ालिम मैं कह रहा कि इस ख़ूँ से दरगुज़र।
सौदा का क़त्ल है, ब' छिपाया न जायगा॥

ज़ौक़

हमने जाना था कि क़ासिद जल्द लायेगा ख़बर।
क्या ख़बर थी जाके वाँ ख़ुद बेख़बर हो जायगा॥
शक़्ल तो देखो मुसव्विर खींचेगा तसवीरे यार।
आप ही तसवीर उसको देख कर हो जायेगा॥

ग़ालिब

नुक़्ताचीं है ग़मे दिल उसको सुनाये न बने।
क्या बने बात जहाँ बात बनाये न बने॥
इश्क़ पर ज़ोर नहीं है य' वो आतिश ग़ालिब।
कि लगाये न लगे और बुझाये न बने॥

इस भाँति सत्रहवीं शताब्दी से प्रारम्भ हो कर उर्दू साहित्य ने आलोच्य काल में बड़ी प्रगति की।

पंजाबी

हिन्दवी और उर्दू साहित्य से पंजाबी साहित्य का साम्य है। दोनों के क्षेत्र

मिले हुए हैं। यह ऐतिहासिक सत्य है कि यद्यपि पंजाब भारतीय संस्कृति का आदि तीर्थ है और वैदिक साहित्य की वह जन्म-भूमि है, तथापि उसमें जन-साहित्य की प्रेरणाएँ सम्यक् रूप से प्रस्फुटित नहीं हो सकीं। प्रत्येक विदेशी आक्रमणकारी ने पंजाब को पादाक्रान्त किया, अनेक बार वहाँ क्रान्ति की लपटें फैलीं और जीवन-जीवन संत्रस्त हो कर प्रतारणा और मृत्यु से दंशित हुआ। यही कारण है कि वहाँ चिन्तन और अनुशीलन के लिए अवकाश नहीं मिल सका। बौद्ध काल में तक्षशिला शिक्षा का बहुत बड़ा केन्द्र था। महायान, नाथ संप्रदाय और कालान्तर में सूफ़ी सम्प्रदायों का उदय यहाँ हुआ, इसलिए यह सहज ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यहाँ सगुणोपासना या मूर्ति-पूजा के लिए सम्भावनाएँ कम ही हो सकती हैं। यही कारण है कि विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में गुरु नानक ने जिस 'सिख सम्प्रदाय' की स्थापना की थी, वह अपने दृष्टिकोण में निर्गुण सम्प्रदाय के अंतर्गत ही था।

पंजाबी साहित्य में चार विचार-धाराएँ विशिष्ट रूप से प्रवाहित हुईं। सूफ़ी विचार-धारा, गुरुग्रंथ विचार-धारा, वीर-काव्य विचार-धारा, और लौकिक प्रेम सम्बन्धी विचार-धारा।

(१) सूफ़ी विचार-धारा—मुसलमान आक्रमणकारी पश्चिम की ओर से ही आए। इन आक्रमणकारियों के साथ सूफ़ी विचार के मुसलमानों ने भी इस देश में प्रवेश किया। प्रारम्भिक सूफ़ियों के केन्द्र पंजाब में ही थे। पंजाबी साहित्य के प्रथम कवि फ़रीदुद्दीन शकरगंज थे। इन्होंने सूफ़ी सम्प्रदाय की अनुभूतियों को लेकर पश्चिमी पंजाबी में काव्य रचना की। फ़रीद शकरगंज के अनन्तर इस विचार-धारा के कुछ और कवि भी मिलते हैं। जिनमें सुलतान बाहू, शाह शरफ और बुल्ले शाह प्रमुख हैं।

(२) गुरुग्रन्थ विचार-धारा—संत सम्प्रदाय के प्रमुख प्रवर्त्तक गुरु नानक हुए (सं० १५२६ से १५९६)। उन्होंने जैसे समस्त पंजाब में एक नई जीवन-ज्योति का जागरण उपस्थित किया। उनकी परम्परा में नौ गुरु और हुए जिनमें पाँचवें गुरु अर्जुन देव ने 'आदि ग्रन्थ' का संकलन किया। इसमें गुरु नानक के अतिरिक्त अन्य संतों की वाणियों का भी समावेश किया गया है। इस परम्परा में गुरु गोविन्द सिंह की कृतियों का संग्रह 'दशम ग्रन्थ' के नाम से हमें प्राप्त है।

(३) वीर-काव्य विचार-धारा—पंजाब में अनेक राजवंशों के भाग्य का निर्णय हुआ है। अनेक वीरों ने अपनी तलवार के पानी में विद्रोहियों और विपक्षियों को डुबाया है। इसलिए इस क्षेत्र में वीर-काव्य जैसे रणचण्डी का उपहार ही है। इस विचार-धारा के प्रमुख कवियों में नजावत हैं जिन्होंने 'नादरशाह दी वार' की रचना कर नादिरशाह के वीरत्व का वर्णन किया है। गुरु गोविन्द सिंह की 'चंडी दी वार' वीर-काव्य की अमर कृति है। शाह मुहम्मद ने महाराज रणजीत सिंह की वीरता का वर्णन किया है।

(४) **लौकिक प्रेम सम्बन्धी विचार-धारा**—वीर और शृंगार रस के अन्तर्गत इस विचार-धारा ने समस्त जन-जीवन को जैसे अमर प्रेम के गीतों से आन्दोलित कर दिया।

सूफ़ी विचार-धारा में जो प्रेम की अन्तर्व्यापिनी अनुभूति है उसे लौकिक क्षेत्र में लाकर आदर्श प्रेम की कथाएँ निर्मित हुईं। इस प्रेम में संयोग और वियोग के अनेक मर्मस्पर्शी चित्र उभरे हैं। आत्मा के क्रोड़ में संचरित प्रेम संसार की लोक-लज्जा अथवा सामाजिक मर्यादा के पाश में आबद्ध नहीं रह सकता। सबसे प्रसिद्ध और मर्मस्पर्शी कथा हीर-राँझा के प्रेम की है। इसे तीन कवियों ने अपने-अपने ढंग से चित्रित किया। कवि दामोदर, भाई गुरुदास और वारिसशाह ने जैसे इस कथा को प्रेम की चिरस्थायी कथा बना दिया है। इन तीनों में वारिसशाह (संवत् १७३८-१७६८) ने कथा को इतना मनोवैज्ञानिक रूप दिया कि वह जन-जन के कंठ में गूँज उठी। वारिसशाह के कथात्मक चित्रण में मंत्र-मुग्ध कर लेने की शक्ति है। उसमें तत्कालीन समाज का चित्रण तथा लोक-परम्परा ही नहीं, वरन् पशु-पक्षी जगत् का अपार सौन्दर्य तथा मानव-मनोविज्ञान का यथार्थ विश्लेषण है। जिस भाँति वारिस-शाह ने हीर-राँझा की प्रेम-कथा को अमरत्व प्रदान किया है, उसी भाँति हीर-राँझा की कथा ने भी वारिसशाह को अमर बना दिया है। वारिस के गुरु हज़रत ग़ुलाम मुर्तज़ा ने 'हीर' सुन कर वारिस के सम्बन्ध में कहा था, "तूने मूँज की रस्सी में जवाहर पिरो दिए हैं।"

हीर-राँझा की कथा के समानान्तर अनेक प्रेम-कथाएँ काव्य का आधार ले कर जनता में प्रचलित हुईं। इनमें मिरज़ा-साहबाँ, ससि-पुन्हूँ, सोहणी-महिवाल आदि की कथाएँ भी मर्मवेधी और जीवन को रस-सिक्त बनाने वाली हैं। इन कथाओं में इतिहास और कल्पना का अद्भुत सम्मिश्रण है। कला की बहुमुखी प्रवृत्तियों को ले कर काव्य का यह लौकिक रूप जीवन में उदात्त भावनाओं की सृष्टि करने में समर्थ है।

पंजाबी साहित्य की ये विविध विचार-धाराएँ आलोच्य काल में कला की अद्भुत सृष्टि करने वाली हैं।

राजस्थानी

राजस्थानी भाषा और साहित्य का निकटतम सम्बन्ध हिन्दी काव्य (ब्रज भाषा) से रहा है। प्रारम्भ में अपभ्रंश से अलग होने पर इसने डिंगल रूप से अनेक चारण-गीतों और प्रबन्ध-काव्यों को जन्म दिया परन्तु कालान्तर में यह ब्रजभाषा से प्रभावित होती रही और उसमें 'पिंगल' के नाम से ब्रजभाषा या उससे मिली-जुली भाषा में प्रचुर साहित्य का निर्माण हुआ। इस साहित्य में अनेक विचार-धाराएँ प्रवाहित हुईं। संक्षेप में उनका विवरण निम्नलिखित प्रकार से है :—

(१) **जैन धर्म सम्बन्धी रचनाएँ**—इस प्रकार का साहित्य श्रमण और श्रावक

जीवन को ले कर अनेक प्रकार के उपदेश और नीति का निरूपण करता रहा। 'दूहा' छन्द ने इस साहित्य के प्रसार में बड़ा योग दिया।

(२) **वीर-पूजा सम्बन्धी रचनाएँ**—इस प्रकार की रचनाओं ने 'रासो' शैली को जन्म दिया जिसमें प्रतापशाली नरेशों के युद्ध और प्रेम का विस्तार-पूर्वक वर्णन हुआ। गीत और प्रबन्ध दोनों ही प्रकार की प्रचुर रचनाएँ इस शैली में देखी जा सकती हैं। इनके अंतर्गत चरित काव्य भी है जिसमें महान् वीरों की यशोगाथा वर्णित है।

(३) **भक्ति-भावना सम्बन्धी रचनाएँ**—निर्गुण और सगुण दोनों उपासनाओं का विस्तृत साहित्य राजस्थानी में है। सगुण में कृष्णोपासना का साहित्य भाव-विभोर कर देने वाला है। निर्गुण सम्प्रदाय के अन्तर्गत दादू-पंथ, चरणदासी संप्रदाय, राम सनेही सम्प्रदाय तथा लालदासी सम्प्रदाय की अनेकानेक रचनाएँ उपासना के क्षेत्र में प्रभावशालिनी हैं।

(४) **काव्य-सिद्धान्त सम्बन्धी रचनाएँ**—यदि यह कहा जाय कि राजस्थानी साहित्य ने ब्रजभाषा साहित्य के समानान्तर ही काव्य-सिद्धान्तों के निरूपण में योग दिया है तो कोई अत्युक्ति न होगी। ब्रजभाषा के अनेक आचार्य कवि राजस्थान में ही हुए और उन्होंने ऐसे अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें ब्रजभाषा साहित्य में सौन्दर्य की सृष्टि हुई। कृपाराम, महाराज जसवन्तसिंह, बिहारी, मतिराम आदि का स्थान राजस्थान था और उन्होंने ब्रजभाषा काव्य के निर्माण और विकास में जो योग दिया वह महत्वपूर्ण है।

(५) **प्रेम काव्य**—राजस्थान के इतिहास में महान् वीरों के बलिदान के साथ प्रेम के लिए सर्वस्व निवछावर करने की आत्म-दृढ़ता के चित्र भी प्राप्त होते हैं। इस क्षेत्र में अनेक लोक-कथाएँ भी सम्मिलित हो गई हैं, इसमें ढोला-मारू और माधवानल काम कंदला की कथाएँ विशेष प्रसिद्ध हैं। कवियों ने आत्म-विभोर होकर प्रेम और प्रकृति के चित्र खींचे हैं।

काव्य के साथ राजस्थानी में गद्य के विकास की रूपरेखा भी स्पष्ट दीख पड़ती है। बात, ख्यात, इतिहास और दास्तान में कहीं राजवंशों के वर्णन हैं, कहीं युद्धों की विभीषिका का चित्रण है, कहीं लौकिक प्रेम की कहानियाँ हैं। राजस्थानी साहित्य सभी दृष्टियों से सम्पन्न है जिसमें अनेक प्रकार की विचार-धाराएँ प्रवाहित हैं।

इन सब का विचार भी इस काल के नामकरण के सन्दर्भ में रखना आवश्यक है।

मैथिली

मैथिली साहित्य का विकास विक्रम की दसवीं शताब्दी से हुआ। सम्भव है, इसके पूर्व भी इस साहित्य में रचनाएँ हुई हों किन्तु उनका कोई प्रमाण हमारे पास

नहीं है। सिद्ध साहित्य के अन्तर्गत कण्हपा और भुसुकि-पा मैथिली भाषा के रूपों में काव्य रचना करते थे, किन्तु इसे हम मैथिली का प्रारम्भिक रूप ही मान सकते हैं। चौदहवीं शताब्दी में हमें एक ग्रन्थ मिलता है—'वर्ण रत्नाकर' जिसके रचयिता हैं श्री ज्योतिरीश्वर ठाकुर। इसे ही हम प्रामाणिक रूप से मैथिली साहित्य की प्रथम रचना कह सकते हैं। यह रचना संस्कृत-गर्भित गद्य में है और इसमें काव्य की छटा सर्वत्र देखने को मिलती है। डॉ० अमरनाथ झा के अनुसार इसकी लेखन-शैली कादम्बरी से समता रखती है।[1] श्री ज्योतिरीश्वर के गद्य का एक उदाहरण देखिए :

"जाक मुखक शोभा देखि पद्म जल प्रवेश कयल, आंखिक शोभा देखि हरिण वन गेल, केशक शोभा देखि चमरी पलायन कयल, दांतक शोभा देखि दाड़िम हृदय विदीर्ण कयल, अधरक शोभा देखि प्रवाल दीपान्तर गेल, कंठ शोभा देखि बौद्ध स्थान स्थित भेल, कंठक शोभा देखि कंबु समुद प्रवेश कयल।" (वर्ण रत्नाकर)

श्री ज्योतिरीश्वर के अनन्तर सबसे प्रसिद्ध कवि श्री विद्यापति ठाकुर हैं जिनका आविर्भाव विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में हुआ। उन्होंने विविध प्रकार की रचनाएँ लिखीं। संस्कृत, अवहट्ठ और तत्कालीन जनभाषा मैथिली में उनकी रचनाएँ बड़ी लोकप्रिय हुईं। सबसे अधिक प्रतिष्ठा और कीर्ति उन्हें कृष्ण और राधा के प्रेम सम्बन्धी पदों के लिखने पर ही प्राप्त हुई। सम्भव है, अपने आश्रयदाता राजा शिवसिंह और उनकी रानी 'लखिमादेई' की रागात्मक प्रवृत्तियों को उभारने के लिए उन्होंने ऐसे पदों की रचना की हो। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि विद्यापति ठाकुर ने शृंगार रस की इतनी लौकिक और भाव-प्रवण अनुभूति अपने पदों में अभिव्यक्त की है कि 'अनंग के तीर भी हलके' पड़ जाते हैं। गीतिकाव्य और गीतात्मकता के इतने प्रणय-गीत संभवतः भारतीय साहित्य में अन्यत्र न होंगे।

सखि कि पूछसि अनुभव मोय।
से है पिरीत अनुराग बखानिए
तिले तिले नूतन होय॥

विद्यापति के काव्य की भाव-राशि भी नित्य नूतन ही है।

विद्यापति के अनन्तर उनकी पुत्रवधू चन्द्रकला, कवि अमृतकर भानुकवि, भिखारी मिश्र, मधुसूदन, जीवनाथ तथा गोविन्ददास ने उत्कृष्ट काव्य-रचना की। कवि शेखर, मंजन, माधव, श्रीपति, चक्रपाणि आदि कवियों ने लोक-तत्व के आधार पर मधुर गीतों की रचना की।

मैथिली काव्य में गीतों के अतिरिक्त प्रबन्ध-काव्य की भी रचना हुई। मनबोध झा का 'कृष्ण-जन्म' मैथिली का आदिकाव्य समझा जाता है। मैथिली साहित्य में नाटक साहित्य की जितनी सृष्टि हुई है, उतनी मध्य कालीन किसी भाषा में नहीं हुई। ये मैथिली नाटक अधिकतर नेपाल के नरेशों के आश्रय और प्रोत्साहन से

---

१. मैथिली लोकगीत की भूमिका—(डॉ० अमरनाथ झा), पृष्ठ ८।

लिखे गये क्योंकि मिथिला नरेश हरिसिंह देव मुसलमानों के आक्रमणों से संत्रस्त हो कर नैपाल चले गए थे और वहीं बस गये थे। ये नाटक अधिकतर पौराणिक अथवा ऐतिहासिक इतिवृत्तों पर ही आधारित थे। मैथिली नाटककारों में उमापति उपाध्याय सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। उनका नाटक 'पारिजात-हरन' पौराणिक कथा पर आधारित है। उमापति उपाध्याय के बाद रमापति उपाध्याय का 'रुक्मिणीपरिणय', बन्दीपति का 'कृष्णकेलि माला', देवानन्द का 'उषाहरण' तथा कर्ण कायस्थ का 'रुक्मांगद' प्रसिद्ध नाटक है।

नाट्य-शिल्प का आधार मूलतः संस्कृत नाट्यशास्त्र ही है तथापि उसके भीतर गीति-तत्व की प्रधानता है। इन नाटकों में लोकतत्व भी विशेष रूप से उभरा है।

मैथिली साहित्य में यह नाटक-शैली अपनी विशिष्ट परम्परा लिए हुए है और सत्रहवीं शताब्दी के साहित्य में इसका विशिष्ट स्थान है। यह आश्चर्य की बात है कि मैथिल कवि विद्यापति को तो हम हिन्दी साहित्य के इतिहास में परिगणित करते हैं परन्तु मैथिली के अन्य कवियों और नाटककारों का नाम भी नहीं लेते। ब्रजभाषा और मैथिली साहित्य अपने भाषागत माधुर्य और भावगत एकरूपता में अप्रतिम है। ऐसी स्थिति में मैथिली में लिखे गए साहित्य का निर्देश हिन्दी साहित्य में भी होना चाहिए। इसी दृष्टिकोण से हिन्दी के इस काल को 'कला-काल' कहने की समीचीनता अधिकाधिक स्पष्ट हो जाती है।

ब्रजभाषा

सत्रहवीं शताब्दी के ब्रजभाषा-साहित्य ने परम्परा और प्रयोग की इतनी अधिक स्थितियाँ पार कीं कि उसमें भावों और विचारों की इन्द्रधनुषी छटा देखने को मिलती है। जीवनी और आत्मकथात्मक साहित्य के साथ सामान्य नीति की इतनी अधिक विविधता प्रदर्शित हुई कि ज्ञात होता है जीवन अपने वैभव में इतना विराट् हो गया है कि उसे एक ही शैली या प्रवृत्ति से संतोष नहीं है। जहाँ काव्य-शास्त्र ने रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि के आधार पर छन्दों की सृष्टि की, वहाँ विषयों की विविधता ने सम्भवतः जीवन का कोई क्षेत्र अछूता नहीं छोड़ा।

सामन्तवादी युग की अभिव्यक्ति ने जहाँ सम्पदा और वैभव के उपयोग में श्रृंगार रस की आवश्यकता समझी, वहाँ परस्पर के युद्ध ने रण-चंडी को भी निमंत्रण दिया और वीर रस रक्त की नदी की भाँति प्रवाहित हो गया। जिसे हम रीति-काल कहते चले आ रहे हैं वह अपने क्रोड में ऐसे अनेक वीर रस के कवियों को भी आश्रय दिए हुए है जिन्होंने न केवल रस की दृष्टि से वरन् इतिहास की दृष्टि से भी महापुरुषों के नाम अमर कर दिए हैं। स्वयं महाकवि केशवदास जो 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' के निर्माता हो कर काव्यशास्त्र की परिपाटी ब्रज-भाषा में चलाना चाहते हैं, 'वीरसिंह देव चरित' लिखकर वीर रस की धारा से उस समय के इतिहास को भी अमरत्व प्रदान करना चाहते हैं।

ब्रज साहित्य की अनेकरूपता

(क) ललित

"जिस समय श्रृंगार रस की प्रेम और विलास सम्बन्धी रचनाओं की मदिरा नरेशों और साधारण जनता को उन्मत्त बना रही थी, उसी समय वीरों की ललकार और रण-भूमि की हुंकार वीर रस से जनता के हृदय में उत्साह भर रही थी। संक्षेप में नीचे कुछ ऐसी रचनाओं की सूची दी जाती है, जिससे इस काल के वीर काव्य का परिचय मिल सके :—

संख्या	ग्रन्थ	कवि	समय	विवरण
१.	वीरसिंह देव चरित	केशवदास	सं० १६६४	वीरसिंह देव (ओरछा) की यशोगाथा
२.	छत्र-प्रकाश	गोरेलाल	१७६७	महाराज छत्रसाल की वीरता
३.	जंगनामा	श्रीधर	१७७०	फर्रुखसीयर और जहाँदरशाह का युद्ध
४.	जगत् दिग्विजय	हरिकेश	१७८२	जगत्सिंह की वीरता
५.	सांभर युद्ध	श्रीकृष्ण भट्ट	१७९१	सवाई जयसिंह और सैयदों का युद्ध
६.	रासा भगवन्तसिंह	सदानन्द	१७९२	भगवन्तराय खीची के युद्ध
७.	सुजान-चरित	सूदन	१८१०	सुजानसिंह (सूरजमल) के जीवन की विशिष्ट घटनाएँ"
८.	हिम्मत बहादुर विरुदावली	पद्माकर	१८४९	हिम्मत बहादुर और अर्जुनसिंह नोने का युद्ध
९.	समर-सार	मान	१८५२	धर्मपालसिंह की वीरता
१०.	हम्मीर रासौ	जोधराज	१८८५	हम्मीर और अलाउद्दीन का युद्ध

यह बात अवश्य कही जा सकती है कि इन कवियों ने काव्य-शास्त्र के अंतर्गत लक्षण ग्रन्थ भी लिखे किन्तु इन्होंने जिस वीर रस-पूर्ण काव्य की रचना की है, वह देश के सांस्कृतिक इतिहास में महत्वपूर्ण है।

(ख) उपयोगी

इस काल में केवल काव्य विषयक ग्रन्थ ही नहीं लिखे गए वरन् जीवन से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञान-विज्ञान पर भी अनेक ग्रन्थ लिखे गए। इससे यही ज्ञात

होता है कि जीवन की अभिव्यक्तियाँ इतनी विविध और बहुमुखी थीं कि साहित्य में उनका प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखलाई दिया। जिन विषयों पर ग्रन्थ लिखे गए उनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार से है :—

विषय	ग्रन्थ	रचयिता	काल
राजनीति	राजभूषण	कोविद	सं० १७५७
	सभा प्रकाश	बुद्धिसिंह	सं० १८६७
	नृपनीतिशतक	राजा लक्ष्मण सिंह	सं० १६००
वैद्यक	सार संग्रह	गंगाराम	सं० १७१४
	आयुर्वेद विलास	राजा देवसिंह	सं० १७३७
	भिषज प्रिया	सुदर्शन वैद्य	सं० १७७६
	शारंधर संहिता	नेतसिंह	सं० १८०८
	चिकित्सा सार	धीरजराम	सं० १८१०
	वैद्य विनोद	हरिवंशराय	सं० १८२२
	औषधि विधि	धन्वन्तरि	सं० १८३६
	औषधि सार	छत्रसाल मिश्र	सं० १८४२
ज्योतिष	तत्व मुक्तावली	सितकंठ	सं० १७२७
	समय बोध	कृपाराम	सं० १७७२
	मतचन्द्रिका	फतेहसिंह	सं० १८०७
गणित	गुण प्रकाश	फतेहसिंह	सं० १८०७
	गणित सार	भीमजू	सं० १८७३
	गणित चन्द्रिका	धीरजसिंह	सं० १८६६
सामुद्रिक	सामुद्रिक	रतन भट्ट	सं० १७४५
	सामुद्रिक	यदुनाथ शास्त्री	सं० १७५८
संगीत	सभाभूषण	गंगाराम	सं० १७४४
	राग रत्नाकर	राधाकृष्ण	सं० १७६६
	रागमाला	रामसखे	सं० १८०४
	रागमाला	यशोदानन्द	सं० १८१५
कोष	शब्द रत्नावली	प्रयागदास	सं० १८६६
उपवन-विज्ञान	बाग विलास	शिवकवि	सं० १८५७
	उपवन विनोद	भोज	सं० १८६७
अन्य	दस्तूर चिन्तामणि (क्षेत्रमिति)	धीरजसिंह	सं० १८६६
	भोजन विलास (पाकशास्त्र)	प्रयागदास	सं० १८७७
	जुद्ध-जोत्सव (सेनाविज्ञान)	जगन्नाथ	सं० १८७७
	सिद्ध सागर तंत्र (तंत्र विद्या)	शिवदयाल	सं० १८६३

आदि

इस भाँति यह स्पष्ट है कि संवत् १७०० से १६०० के काल में काव्य का विकास ब्रजभाषा तथा उससे सम्बन्धित अथवा प्रभावित भाषाओं में नाना रूप से हो रहा था। विदेशी शासकों की राजनीति में कला और विलास के प्रवेश होने पर जीवन अधिक सुविधाजनक तथा स्वतंत्र हो गया और उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम भी अधिक व्यापक हो गए। यदि वास्तु और चित्रकला के अनेकानेक प्रयोग पाषाणों और पृष्ठों पर होने लगे तो कोई कारण नहीं कि काव्य तथा ज्ञान-विज्ञान के अनेक रूप जनता की वाणी में न गूँज उठें। विलासी नरेशों के कक्ष में जहाँ नूपुर ध्वनित हुए, वहाँ शूरवीर योद्धाओं ने रण-क्षेत्र में तलवारों की झनकार उत्पन्न की और जनता दोनों ही में रस लेने लगी। इस भाँति जीवन के क्षेत्र अधिक व्यापक हुए जिनमें काव्य के प्रयोग पूरे उत्साह और आत्म-विश्वास के साथ घटित हुए।

ऐसी स्थिति में काव्य के इस व्यापक विस्तार को केवल एक रस-रीति की प्रवृत्ति के आधार पर 'रीतिकाल' नाम देना उपयुक्त न होगा। उस समय के राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन में कला विषयक दृष्टिकोण की नाना अभिव्यक्तियाँ हो रही थीं, अतः संवत् १७०० से १६०० तक के हिन्दी साहित्य के काल को 'कला-काल' नाम देना सर्वथा उचित और युक्तिसंगत होगा।

प्रथम प्रकरण

कला-काल पर लिखित साहित्य

प्रवेश

रीति-साहित्य कला-काल का एक महत्त्वपूर्ण अंश रहा है। यह रीति-साहित्य संस्कृत के काव्य-शास्त्र से प्रेरित तो अवश्य हुआ किन्तु काव्य-शास्त्र की मौलिक विचार-धारा में कोई योग नहीं दे सका। संस्कृत के आचार्यों ने काव्य के अन्तर्पक्ष को जिस विश्लेषणात्मक दृष्टि से देख कर उसकी विशेषताओं का निर्धारण किया था, उस भाँति ब्रजभाषा के कवियों ने काव्य को नहीं परखा। जिस भाँति रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि के महत्त्व को क्रमशः आचार्यों ने अपने गहन चिन्तन से काव्य पर घटित किया था, उस भाँति हिन्दी के आचार्य-कवियों ने इस चिन्तन की परम्परा को आगे नहीं बढाया। काव्यशास्त्र जैसे ध्वनि की 'सीमा' पर आकर रुक गया। कोई चिन्तन के क्षेत्र में अन्वेषण नहीं कर सका। उसके आगे जैसे कोई 'राह' ही नहीं रही। संस्कृत के आचार्य जो कुछ भी काव्य के सम्बन्ध में कह गये थे, उसी को अपना आधार मान कर हिन्दी के कवियों ने अपने काव्य की शोभा सजाई, जैसे किसी निश्चित सरगम पर कोई गायक किसी राग की अवतरणा कर दे। इसके दो कारण थे। पहला तो यह कि तत्कालीन वातावरण में कला की साधना राज्य से संपोषित होने के कारण भौतिक प्रगति में सहायक हो रही थी, अतः चित्रकला अथवा वास्तुकला की भाँति काव्यकला भी एक शास्त्रीय आधार चाहती थी और दूसरा यह कि आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिये कवि अपनी प्रतिभा का चमत्कार काव्य-रचना में दिखलाना चाहता था। रस अथवा अलंकार की शास्त्रीय परिभाषा दे कर उसके उदाहरणस्वरूप कवि ऐसे चित्र खींचने में अपना कौशल समझता था कि सुनते ही आश्रयदाता या सामान्य पाठक उस पर 'वाह' कह उठे। वक्रोक्ति में श्लेष अथवा काकु से अर्थ में परिवर्तन होना अभीष्ट था। इस परिभाषा पर कवि ने उदाहरण में अपनी रसीली उक्ति कह दी :—

> **आज कहा तजि बैठी हो भूषण ऐसहि अंग कछू अरसीले।**
> **बोलत बोल रुखाई लिये मतिराम सनेह सने हो सुसीले॥**
> **क्यों न कहै दुख प्रानप्रिया अँसुवानि रहे भरि नैन लजीले।**
> **कौन तिन्हें दुख है जिनके तुमसे मन भावन छैल छबीले॥**

भक्तिकाल में रीति

ऐसी बात नहीं है कि सत्रहवीं शताब्दी में भक्तिकाल समाप्त हो गया और

उसके स्थान पर रीतिकाव्य प्रारम्भ हुआ। कोई भी साहित्यिक प्रवृत्ति घड़ी की सुई की भाँति काल की सीमा निर्धारित नहीं करती। वह जन-मानस में हलकी लहर की भाँति आन्दोलित होती रहती है। इसी प्रकार यह भी देखा जा सकता है कि भक्तिकाव्य में रीतिकाव्य की रचनाएँ हुई हैं जिस प्रकार रीतिकाव्य में भक्तिकाव्य की। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भक्तिकाव्य में धर्म के प्रति जो जन-जागरण हुआ था वह इतना शक्तिशाली था कि उसके समक्ष रीति की प्रवृत्तियों पर किसी का ध्यान विशेष रूप से जा ही नहीं सकता था। यदि कवि अपनी साहित्यिक रसज्ञता के कारण काव्य के शास्त्रीय-पक्ष को ग्रहण भी करता था तो वह उसके विश्लेषण में अधिक विचार-प्रवण नहीं हो सकता था। रस का आधार लेकर यदि कोई कवि अपने वर्ण्य-विषय का विस्तार भी करता था तो वह स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म भावाभिव्यञ्जना में परिस्थिति या वस्तु का चित्र उपस्थित करता था। भक्तिकाल में शृंगार का आधार लेकर अनेक कवियों ने अपने इष्ट के प्रति भावनाएँ व्यक्त की हैं। संस्कृत में महाकवि जयदेव ने जो शृंगार के मंच पर राधा और कृष्ण के रूप उपस्थित किए हैं, वे माधुर्योपासना के रंगों में शोभा और सौन्दर्य के प्रतीक बन कर आए हैं। उन्हीं से प्रेरणा ग्रहण कर महाकवि विद्यापति ने अपनी पदावली में राधा के प्रेम के प्रसंगों की बड़ी ही मनोहारिणी छटा उपस्थित की है। राधा के अंगों की शोभा का वर्णन करते हुए जब कवि अनेक उपमानों का प्रयोग करता चलता है तो ज्ञात होता है कि कवि सहस्र नेत्रों से राधा का सौन्दर्य देखता है। यदि कवि उस चित्रण में मनोविज्ञान का आश्रय न लेता तो वह सौन्दर्य स्थूल होकर प्रेम के स्थान पर वासना को जन्म दे देता। सौन्दर्य के क्रोड़ में इन्द्रिय की पुकार अन्तःकरण की जिज्ञासा बन जाती है। अतृप्त आकांक्षा प्रेम की साधना बन जाती है और सौन्दर्य प्रेम का अंगीभूत तत्व बन जाता है। कवि ने लिखा :—

कि कहब माधव बयस क संधि,
हेरतई मनसिज मन रहु बंधि।
तइओ काम हृदय अनुपाम,
रोपल घट अचल कए ठाम।

किन्तु इस रूप-चित्रण के क्रोड़ में मनोविज्ञान की प्रतिष्ठा कर कवि ने आगे कहा :—

सुनइत रस कथा थापय चीत,
जइसे कुरंगिनि सुनये गीत।
सैसव जौवन उपजल वाद,
कैओ न मानय जय-अवसाद॥

इस प्रकार सौन्दर्य विषाक्त न होकर अमृतमय हो गया। इसी भाँति महाकवि सूरदास ने लिखा

धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी
एक धार दोहनि पहुँचावति एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी।
मोहन कर ते धार चलति पय मोहनि मुख अति ही छबि बाढ़ी ॥

अंतिम चरण में कवि ने प्रेम की प्रोज्ज्वल स्थिति की ओर संकेत कर दिया है।

महाकवि तुलसीदास जब सीताहरण के उपरान्त राम की वियोग-व्यथा का चित्रण करते हैं तो सीता के अंग-प्रत्यंग का वर्णन करने लगते हैं। किन्तु उनका काव्य-कौशल इस रूप में प्रकट हुआ है कि एक तो उन्होंने सीता के रूप-चित्रण के लिए रूपकातिशयोक्ति का आश्रय लिया है और दूसरे उन्होंने उस सौन्दर्य-राशि में व्यथा की इतनी मर्मस्पर्शी अन्तर्धारा प्रवाहित कर दी है कि रूप के आकर्षण का आग्रह गौण हो जाता है :—

कुन्द कली दाड़िम दामिनी। शरद कमल शशि अहि भामिनी ॥
वरुन पास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा ॥
श्रीफल कनक कदलि सकुचाहीं। नेकु न संक सकुचि मन माँही ॥
सुनु जानकी न तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ निज राजू ॥

तुलसीदास की 'बरवै रामायण' तो जैसे रीतिकाव्य के दृष्टिकोण से ही लिखी गई है। उसमें कथा का संकेतमात्र है। केवल विशिष्ट प्रसंगों पर ही मुक्तक रूप से अलंकृत शैली के अन्तर्गत बरवै छन्द लिखे गए हैं—"बालकाण्ड में राम जन्मादि कुछ नहीं है। सीता राम का सौन्दर्य-वर्णन और जनकपुर में स्वयंबर का संकेत मात्र है। इसी भाँति अन्य काण्डों की कथा भी अत्यन्त संक्षेप में है। लंकाकाण्ड के केवल एक बरवै में सेनावर्णन ही है। उत्तरकाण्ड में कोई कथा ही नहीं है। ज्ञान और भक्ति का वर्णन मात्र है। समस्त ग्रन्थ में भरत का नाम एक बार भी नहीं आया।...बरवै रामायण के प्रारम्भिक छन्द तो अलंकार निरूपण के लिए लिखे ज्ञात होते हैं। इसी भाँति उत्तरकाण्ड में शान्तरस का निरूपण है।...यदि इस ग्रन्थ में उत्तरकाण्ड न होता तो यह रीति-कालीन रचना कही जा सकती थी।"[१]

चम्पक हरवा सिय हिय अधिक सुहाय।
जानि परै सिय हियरे जब कुम्हलाय ॥
कुंकुम तिलक भाल श्रुति कुंडल लोल।
काक पच्छ मिलि सखि कस लसत कपोल ॥
केस मुकुत सखि मरकत मनिमय होत।
हाथ लेत पुनि मुकता करत उदोत ॥

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (प्रथम भाग), चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ३७६-३७७।

का घूँघट मुख मूँदहु नवला नारि।
चाँद सरग पूर सोहत यहि अनुहारि॥
गरब करहु रघुनन्दन जनि मन माँह।
देखहु आपनि मूरति सिय कै छाँह॥
बिरह आगि उर ऊपर जब अधिकाय।
ए अँखियाँ दोउ बैरिनि, देहिं बुताय॥

राम-भक्ति का अनन्य कवि काव्य की आत्मा को भी पहिचानता है। इसलिए उसने रामचरित मानस में लिखा :—

आखर अरथ अलंकृत नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना॥
भाव-भेद रस-भेद अपारा। कवित दोष-गुन विविध प्रकारा॥

काव्य-शास्त्र का गहन अध्ययन होते हुए भी तुलसीदास ने राम-भक्ति को ही अपने काव्य का चरम लक्ष्य बनाया। महाकवि नन्ददास अष्टछाप के सिद्ध कवि थे। उन्होंने पुष्टिमार्ग के प्रभाव से 'रास पंचाध्यायी' और 'भ्रमरगीत' की रचना की। किन्तु वे रसवादी कवि थे और उन्होंने भानुदत्त की 'रस-मंजरी' के आधार पर अपने ग्रन्थ 'रस-मंजरी' की रचना की। उनका 'रस-मंजरी' ग्रन्थ नायिका-निरूपण का ही ग्रन्थ है—

रस मंजरि अनुसारि कै, नन्द सुमति अनुसार।
बरनत बनिता भेद जहँ, प्रेम सार विस्तार॥[1]

नन्ददास का नायिका-निरूपण अत्यन्त स्पष्ट और विशद है। उन्होंने अपने लक्षणों का सूत्र बना कर ही नहीं छोड़ दिया, वरन् भिन्न-भिन्न नायिकाओं के स्वरूप का स्वच्छता और विस्तार के साथ वर्णन किया है। वास्तव में, जैसा एक हिन्दी के लेखक ने कहा है—'रस-मंजरी' नायिका भेद पर एक सुन्दर पद्यबद्ध निबन्ध है।[2]

इसका उदाहरण देखिए :—

पिय उर मुकर समान सोहाई। तामैं निरखि आपनी झाँई॥
आन तिया की संका मानै। रंचक पिय सौं रूठनो ठानै॥
पुनि अवधारै कोप निवारै। हँसि हँसि ता प्रतिबिम्बहि मारै॥
इहि परकार परखियैं जोई। है अधीर प्रौढ़ा तिय सोई॥

(प्रौढ़ा अधीरा)

सागस जानि रसीले लाला। कोमल मान गहै बरबाला॥
प्रेम भरे सुनि वचन पिया के। हँसहि कपोल सलोल तिया के॥

---

१. रामचरित मानस १, ८, ९-१०।
२. हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास, पृष्ठ १५४।

राते दृग रिस-रस सौं भोये। मानहुँ मीन महावर धोये ॥
इहि परकार तिया जौ लहियै। प्रौढ़ा, धीराधीरा कहियै ॥[1]

(प्रौढ़ा धीराधीरा)

प्रारम्भ में समस्त लक्षणों का निर्देश करके अन्त में नायिका का नाम देना, जिज्ञासा उत्पन्न कर फिर उसका समाहार करने की भाँति है।

रहीम कवि खानखाना ने भी बरवै छन्द में नायिका-भेद लिखा। यद्यपि उन्होंने नायिकाओं के लक्षण नहीं लिखे हैं तथापि इतने सरस उदाहरण दिए हैं कि बरवै जैसे छोटे छन्द में वे रत्न-दीप की भाँति जगमगाते हैं। उनमें मनोविज्ञान की भी छटा है जिससे नायिकाओं के चित्र बड़े ही आकर्षक और मर्मस्पर्शी बन गये हैं। कुछ उदाहरण देखिए :—

बालम अस मन मिलियउँ, जस पय पानि।
हंसिन भइल सवतिया, लइ बिलगानि ॥

(अन्य सुरति दुःखिता)

आपुहि देत कजरवा गूंदत हार।
चुनि पहिराव चुनरिया, प्रान अधार ॥

(प्रेम गर्विता)

खीन मलिन बिषभैया औगुन तीन।
मोंहि कहत बिधु बदनी, पिय मति हीन ॥[2]

(रूप गर्विता)

इस भाँति यह स्पष्ट ढंग से देखा जा सकता है कि भक्तिकाल में भी रीति-शास्त्र के प्रति कवियों की प्रतिभा सजग थी यद्यपि परिस्थितियाँ 'रीति' के लिए अनुकूल नहीं थीं।

रीति का प्रारम्भ

परिस्थितियों के अनुकूल न रहते हुए भी जिन कवियों में भक्ति का उन्मेष युगानुकूल नहीं था, उन्होंने रीति-शास्त्र सम्बन्धी स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना की। यह हमारे देश का दुर्भाग्य है कि हमारे प्राचीन साहित्य की अतुल ग्रन्थ-राशि हमें प्राप्त नहीं हो सकी। हमारे देश पर आक्रमण करने वाले विदेशियों ने उन ग्रन्थों को जला कर नष्ट कर दिया या नृशंसताओं और अत्याचारों के होने पर जब लोग अपने-अपने घर छोड़ कर भागे तो वे अपनी साहित्यिक निधि अपने साथ नहीं ले जा सके और उनके पीछे वह नष्ट हो गई। यदि किसी स्थान पर वे ग्रन्थ सुरक्षित भी रहे, तो उनका

---

१. नन्ददास—(प्रथम भाग) श्री उमाशंकर शुक्ल, पृष्ठ ४४, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग १९४२।

२. अब्दुर्रहीम खानखाना—डॉ० समर बहादुरसिंह, पृष्ठ ३७१, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी १९६१।

मूल्य उनके अधिकारियों ने नहीं समझा और कालान्तर में वे विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गए। आज भी प्राचीन ग्रन्थ जिनके पास हैं वे या तो उन्हें पूजा की सामग्री बनाकर उन पर किसी की दृष्टि ही नहीं पड़ने देते अथवा अर्थ-लोभ से वे उसका इतना मूल्य माँगते हैं कि कोई व्यक्ति या संस्था उतना मूल्य नहीं दे सकती। वे स्वयं तो उसका उपयोग कर नहीं सकते, अतः अपने मुख से कहे गए पुण्यों की भाँति वह साहित्य-राशि भी क्षीण होती रहती है। आज हमारे साहित्य की कितनी परम्पराएँ अधूरी हैं, कितनी साहित्यिक प्रवृत्तियों की कड़ियाँ टूटी हुई हैं क्योंकि उनको जोड़ने वाले ग्रन्थ अप्राप्य हैं। सीता के नूपुरों से गिरे हुए कुछ 'कनक-बिन्दु' की भाँति ही हमें अपने प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

उक्त मत का समर्थन रीति का स्वतंत्र रूप से निरूपण करने वाले कृपाराम की 'हित-तरंगिणी' से होता है। कृपाराम के पूर्व भी कुछ कवि थे जिन्होंने इस विषय का सम्यक् रूप से विस्तारपूर्वक निरूपण किया। कृपाराम अपनी हित-तरंगिणी में लिखते हैं :—

बरनत कवि सिंगार रस, छंद बड़े विस्तारि।
मैं बरन्यों दोहान बिच, यातें सुघरि विचारि॥

इससे यही प्रमाणित होता है कि बड़े छंदों (कवित्त, सवैया) आदि में कृपाराम के पहले अनेक कवि श्रृंगार-रस का वर्णन कर चुके हैं। कृपाराम ने उसी विषय को संतुलित रूप से विचार करते हुए 'दोहा' छंद में (अत्यंत संक्षेप में) वर्णित किया।

'हित-तरंगिणी' की रचना संवत् १५९८ में हुई थी।

सिधि निधि शिवमुख चन्द्र लखि, माघ सुद्ध तृतीयासु।
हित तरंगिनी हौं रची, कवि हित परम प्रकासु॥
रचौ ग्रन्थ कविमत धरे, धरे कृष्ण को ध्यान।
राखे सरस उदाहरन, लच्छनजुत सज्ञान॥

कृपाराम ने इस ग्रन्थ को कवियों से समर्थित सिद्धान्तों के आधार पर प्रयत्न-पूर्वक सरस उदाहरणों से लक्षण रूप में लिखा। अतः भक्तिकाल में भी जब रीति-ग्रन्थों का प्रणयन होने लगा था तब काव्यशास्त्र को प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थ पर्याप्त मात्रा में होंगे जिनमें से अधिकांश हमें उपलब्ध नहीं हैं। जो ग्रन्थ हमें उपलब्ध भी हैं, उनमें से अनेक ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हो पाये। वे ग्रन्थ किसी राजपुस्तकालय की बन्द आलमारियों में उपेक्षा के अंधकार में लिपटे हुए या किसी मन्दिर में पुजारी की कृपा से देवदासी की भाँति देवता की सम्पत्ति बन कर मन्दिर के प्रकोष्ठ में ही सीमित हैं। संयोग से जो साहित्य हमें प्राप्त है, उसका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार से है :—

(क) कला-काल-पूर्व के रीति-ग्रंथ

संख्या	कवि	ग्रन्थ	काव्यकोटि	समय
१.	कृपाराम	हित-तरंगिनी	रस	१५६८
२.	सूरदास	साहित्य लहरी	रस	१६०७
३.	नन्ददास	रस मंजरी	रस	१६०८
४.	मोहनलाल	शृंगार सागर	रस	१६१६
५.	करनेस	कर्णाभरण	अलंकार	१६३७
६.	बलभद्र	नखशिख	रस	१६४०
७.	रहीम	नायिका भेद	रस	१६४०
८.	केशव	रसिक प्रिया	रस	१६५०
		कविप्रिया	अलंकार	१६५८
९.	मोहनदास	बारहमासा	रस	१६५०
१०.	हरिराम	छंद रत्नावली	पिंगल	१६५१
११.	मुबारक	अलक शतक, तिलक शतक	रस	१६६०
१२.	गोप	अलंकार चन्द्रिका, रामचन्द्र भूषण	अलंकार	१६७०,१६७३
१३.	बालकृष्ण	रामचन्द्र प्रिया	पिंगल	१६७५
१४.	लीलाधर	नखशिख	रस	१६७६
१५.	ब्रजपति भट्ट	रंगभाव माधुरी	रस	१६८०
१६.	छेमराज	फतह प्रकाश	अलंकार	१६८५
१७.	सुन्दर	सुन्दर शृंगार	रस	१६८८
१८.	तोष	सुधानिधि	रस	१६९१
१९.	जसवन्तसिंह	भाषा भूषण	अलंकार	१६९५
२०.	सेनापति	कवित्त रत्नाकर	अलंकार और रस	१७००
२१.	मंडन	रस रत्नावली और रस विलास	रस	१७००

(ख) कला-काल के रीति-ग्रंथ

संख्या	कवि	ग्रन्थ	काव्यकोटि	समय
१.	चिन्तामणि	काव्य प्रकाश	काव्यशास्त्र	
		शृंगार मंजरी	रस	१७००
		कविकुल कल्पतरु	काव्यशास्त्र	१७०७
२.	मतिराम	रसराज और साहित्य सार	रस	१७००,१७४०
		ललित ललाम	अलंकार	१७१६

संख्या	कवि	ग्रन्थ	काव्यकोटि	समय
३.	शंभुनाथ सोलंकी	नायिका भेद	रस	१७०७
४.	तुलसी	रस कल्लोल तथा रस भूषण	रस	१७११
५.	कुलपति	रस रहस्य	रस	१७२४
६.	गोपालराम	रस सागर	रस	१७२६
७.	भूषण	शिवराज भूषण	अलंकार	१७३०
८.	सुखदेव मिश्र	रसार्णव तथा फाजिल अली प्रकाश, शृंगारलता	रस	१७३३
९.	गोपाल राय	भूषण विलास	अलंकार	१७३६
१०.	बलवीर	उपमालंकार	अलंकार	१७४१
११.	देव	सुखसागर तरंग, जाति विलास	रस	१७४६
		भावविलास और काव्य रसायन	काव्यशास्त्र	१७६०
१२.	कालिदास	वधू विनोद	रस	१७४९
१३.	श्रीनिवास	रस सागर	रस	१७५०
१४.	कुन्दन	नायिक भेद	रस	१७५२
१५.	केशवराय	नायिका भेद	रस	१७५४
१६.	रघुनाथ	रसिक मोहन	अलंकार	१७५७
१७.	लोकनाथ चौबे	रस तरंग	रस	१७६०
१८.	खड़गराम	नायिका भेद	रस	१७६५
१९.	सूरति मिश्र	रस रत्नाकर, रसरत्नमाला, रसग्राहक चन्द्रिका	रस	१७६०
		अलंकार माला	अलंकार	१७६६
२०.	बेनीप्रसाद	रस शृंगार समुद्र	रस	१७६५
२१.	कृष्ण भट्ट	शृंगार रस माधुरी	रस	१७६९
२२.	गोप	रामचन्द्राभरण, रामचन्द्र भूषण	अलंकार	१७७३
२३.	याकूब खां	रस भूषण	रस	१७७५
२४.	कुमारमणि	रसिक रसाल	रस	१७७६
२५.	वीर	कृष्णचन्द्रिका	रस	१७७९

संख्या	कवि	ग्रन्थ	काव्यकोटि	समय
२६.	श्रीपति	काव्य सरोज, काव्य कल्प-द्रुम	काव्यशास्त्र	१७८०
२७.	गंजन	कमरुद्दीन हुलास	काव्यशास्त्र	१७८६
२८.	रसिक सुमति	अलंकार चन्द्रोदय	अलंकार	१७८६
२९.	आजम	श्रृंगार रस दर्पण	रस	१७८६
३०.	भूपति	कंठाभूषण	अलंकार	१७९१
३१.	वंशीधर	अलंकार रत्नाकर	अलंकार	१७९२
३२.	गोविन्द कवि	कर्णाभरण	अलंकार	१७९२
३३.	सोमनाथ	रस पीयूष निधि	काव्यशास्त्र	१७९४
३४.	रसलीन	रस प्रबोध	रस	१७९८
३५.	गुरुदत्तसिंह	रस रत्नाकर, रसदीप	रस	१७९९
३६.	दूलह	कवि कुल कंठाभरण	अलंकार	१८००
३७.	उदयनाथ	रसचन्द्रोदय	रस	१८०४
३८.	शंभुनाथ	अलंकार दीपक	अलंकार	१८०६
		रस कल्लोलिनी, रस तरंगिणी	रस	१८०६
३९.	भिखारीदास	श्रृंगार निर्णय	रस	
		काव्यनिर्णय	काव्यशास्त्र	१८०३-१८०७
४०.	रस रूप	तुलसी भूषण	रस	१८११
४१.	रूपसाहि	रूप विलास	रस	१८१३
४२.	गुमान मिश्र	अलंकार दर्पण	अलंकार	१८१८
४३.	शोभा कवि	नवल रस चन्द्रोदय	रस	१८१८
४४.	बैरीसाल	भाषाभरण	अलंकार	१८२५
४५.	हरिनाथ	अलंकार दर्पण	अलंकार	१८२६
४६.	रतनेश	अलंकार दर्पण	अलंकार	१८२७
४७.	दत्त	साहित्यलता	अलंकार	१८३०
४८.	रतन कवि	फतेह भूषण	काव्यशास्त्र	१८३०
४९.	जनराज	कविता रस विनोद	काव्यशास्त्र	१८३३
५०.	महराज रामसिंह	अलंकार दर्पण	अलंकार	१८३५
५१.	ऋषिनाथ	अलंकार मणि मंजरी	अलंकार	१८३५
५२.	दौलतराम	रसचन्द्रिका, जुगल प्रकाश	रस	१८३७
५३.	रामसिंह	रस निवास	रस	१८३९
५४.	सेवादास	रघुनाथ अलंकार, रस दर्पण	अलंकार, रस	१८४०

संख्या	कवि	ग्रन्थ	काव्यकोटि	समय
५५.	थानकवि	दलेल प्रकाश	काव्यशास्त्र	१८४०
५६.	हितकृष्ण	नायिका भेद	रस	१८४०
५७.	देवकीनन्दन	श्रृंगार चरित	रस	१८४१
५८.	चन्दन	काव्याभरण	अलंकार	१८४५
५९.	समनेस	रसिक विलास	रस	१८४७
६०.	बेनी बन्दीजन	रस विलास	रस	१८४९
६१.	लाल कवि	विष्णु विलास	रस	१८५०
६२.	मान कवि	नरेन्द्रभूषण	अलंकार	१८५५
६३.	भोगीलाल	बखत विलास	रस	१८५६
६४.	यशवन्तसिंह	श्रृंगार शिरोमणि	रस	१८५६
६५.	माखनलाल	वसन्त मंजरी	रस	१८६०
६६.	गुरुदीन	वाग्मनोहर	काव्यशास्त्र	१८६०
६७.	करन	साहित्य रस	काव्यशास्त्र	१८६०
६८.	संग्रामसिंह	काव्यार्णव	अलंकार	१८६६
६९.	ब्रह्मदत्त	दीप प्रकाश	अलंकार	१८६७
७०.	पद्माकर	जगद्विनोद, पद्माभरण,	रस, अलंकार	१८६७
७१.	यशोदानन्दन	बरवै नायिका भेद	रस	१८७२
७२.	बेनी प्रवीन	नवरस तरंग	रस	१८७८
७३.	प्रतापसिंह	व्यंग्यार्थ कौमुदी	काव्यशास्त्र	१८८२-१८९४
		अलंकार चिन्तामणि	अलंकार	
७४.	करन कवि	रस कल्लोल	रस	१८८५
७५.	बलवान सिंह	चित्रचन्द्रिका	अलंकार	१८८९
७६.	दयानाथ	आनन्द रस	रस	१८८९
७७.	गिरिधर दास	भारतीभूषण	अलंकार	१८९०
७८.	चतुर्भुज	अलंकार आभा	अलंकार	१८९६
७९.	रणधीर सिंह	काव्य रत्नाकर	काव्यशास्त्र	१८९७
८०.	नवीन कवि	रंग तरंग	रस	१८९९
८१.	लेखराज	लघुभूषण	अलंकार	१९००
८२.	ग्वाल कवि	साहित्य दर्पण,'	काव्यशास्त्र	
		अलंकार भ्रमभंजन	अलंकार	१९००

(ग) कला-काल के अनन्तर रीति-ग्रंथ

१.	सेवक	वाग्विलास	रस	१९००
२.	रामदास	कविकल्पद्रुम	काव्यशास्त्र	१९०१

संख्या	कवि	ग्रन्थ	काव्य कोटि	समय
३.	नारायणदास	कविकल्पद्रुम	काव्यशास्त्र	सं०१६०१
४.	चन्द्रशेखर	रसिक विनोद	रस	१६०३
५.	नारायण	नाट्यदीपिका	काव्यशास्त्र नाटक	१६०३
६.	ग्वाल कवि	रस रंग	रस	१६०४
७.	बलदेव	प्रताप विनोद	काव्यशास्त्र	१६२६
८.	नन्दराम	श्रृंगार दर्पण	रस	१६२६
९.	लेखराज	रस रत्नाकर	रस	१६३०
१०.	लछिराम	कमलानन्द कल्पतरु	काव्यशास्त्र	१६४०
		रामचन्द्र भूषण	अलंकार	
		रावणेश्वर कल्पतरु	काव्यशास्त्र	१६४७
११.	गुलाब सिंह	बनिता भूषण	अलंकार	१६४६
१२.	मुरारीदान	जसवन्त जसोभूषण	अलंकार	१६५०
१३.	महाराज प्रताप नारायण	रस कुसुमाकर	रस	१६५१
१४.	गंगाधर	महेश्वर भूषण	अलंकार	१६५२
१५.	बलदेव (द्विजगंग)	प्रमदा पारिजात	रस	१६५७

यद्यपि कला-काल की धारा ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी के उपरान्त क्षीण पड़ने लगी थी तथापि जो परम्पराएँ पिछली दो शताब्दियों से चल रही थीं, उनका आग्रह कवियों में न्यूनाधिक मात्रा में बना ही रहा। कवि अब भी अपनी प्रतिभा से प्रेरित होकर प्राचीन काव्यादर्शों के आधार पर रस और अलंकार से काव्य को आभूषित करना अपने कवि-धर्म की पूर्ति समझते थे।

इन समस्त कवियों ने संस्कृत काव्य-शास्त्र के आचार्यों के सिद्धान्तों का ही आधार लेकर हिन्दी में रीति-काव्य की स्थापना की। इस संदर्भ में केवल मुख्य-मुख्य ग्रन्थों की सूची दी गई है।

अनेक कवियों ने अपनी प्रवृत्ति और दृष्टिकोण के अनुसार रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि के किसी विशिष्ट आचार्य अथवा आचार्यों के ग्रन्थों को ही अपने रीति-काव्य का आधार बनाया। अधिकतर हिन्दी के कवियों ने रस या अलंकार को ही काव्य में सजाने का प्रयत्न किया। इसलिए रस और अलंकारों के आचार्य भरत, अभिनवगुप्त, मम्मट, उद्भट और रुद्रट आदि से ही उन्होंने अपनी प्रेरणा प्राप्त की। बाद के आचार्य जयदेव और अप्पय दीक्षित के ग्रन्थ चन्द्रालोक और कुवलयानन्द भी उनके मार्ग-दर्शक रहे। यही नहीं, हिन्दी के पूर्ववर्ती आचार्यों की रचनाएँ भी परवर्ती कवियों की काव्य- मीमांसा का मार्ग प्रशस्त करती रहीं। उदाहरण के लिए स्वयं कवियों ने जो आधार और आभार-प्रदर्शन किया है,

उसके उदाहरण देखिए :—

कविन कहे कवितान के अलंकार द्वै रूप।
एक कहैं साधारणैं, एक विशिष्ट स्वरूप॥

(केशव)

जो सुरबानी ग्रन्थ है तिनकों समुक् विचार।
चिन्तामनि कवि करत हैं, भाषा कवित विचार॥
पद आरोहारोह सो जोग समाधि प्रकार।
ऐसे औजहिं गनत हैं मम्मट बुद्धि विचार॥

(चिन्तामणि)

संसकि्रित कों अर्थ लै भाषा शुद्ध विचार।
उदाहरण क्रम ए किये, लीजो सुकवि सुधार॥

(मतिराम)

जिते साज हैं कवित के मम्मट कहे बखान।
ते सब भाषा में कहे, दस रहस्य में आन॥

(कुलपति मिश्र)

तिनि मथि कुबलयानन्द गत अजौं कियो उद्योग।
अलंकार चन्द्रोदय निकारियो सुमित लिखिवे जोग॥

(रसिक सुमति)

कुबलयानन्द चन्द्रलोक मते ते कही,
लुपता ये आठों आठों प्रहर प्रमानिये।

(दूलह)

तेहि नारायण ईस कौ, करि मन माँहि समर्ण।
रीति कुबलयानन्द की कीन्हीं भाषा भर्ण॥

(बैरीसाल)

जो प्राचीन काव्य मन किये उदार।
ताते हों न और कछु कियो विचार॥
भरत, भोज अरु मम्मट श्री जयदेव।
विश्वनाथ, गोविन्दभट दीक्षितमेव॥
भानुदत्त आदिक को करि अनुमान।
दियो प्रगट करि भाषा कवित विधान॥
कहि पुल्लिग देवता जहँ अस होइ।
चन्द्रालोक लिखे इमि बरनै सोइ॥
उठत विलँब करि पद जहँ शिथिलो सोइ।
मम्मट मतों लिखो इमि कवि कहि सोइ॥

(जगत सिंह)

कुवलयानन्द चन्द्रालोक मैं अलंकार के नाम।
तिनकी गति अवलोकि कै अलंकार कहि राम ।।

(सेवादास)

लखि गति चन्द्रालोक अरु काव्य प्रकाश सुदीप्त।
औरों भाषा ग्रंथ बहु ताको संगत गीत ।।

(रणधीर सिंह)

साङ्गधर अरु भरत ने करे ज ग्रन्थ अपार।
सार सार संग्रह करैं, निज मति के अनुसार ।।

(नारायण)

विंग अर्थ अतिसय कविन को कहि पावै पार।
मम्मट मति कछु समुझि के कीन्हों मति अनुसार ।।

(प्रताप साहि)

देखे भाषा संस्कृत, ग्रन्थ अनेक विचारि।
तिनके बरनत नाम हैं, जथा सुक्रम अनुसार ।।
तुलसी, भूषन, प्रथम ही, भाषा काव्य प्रकाश।
कविप्रिया, रसिकप्रिया, विरचित केशवदास ।।
रस रहस्य देखें बहुरि भाषाभरन विशेषि।
रसिक रसाल विलोकि पुनि भाषा भूषन देखि ।।
पुनि देखे रसराज अरु देखें जगत विनोद।
पद्माभरणादिक लखे भाषा ग्रन्थ समोद ।।
रस मंजरी तरंगिनी, देखे काव्य विलास।
काव्य प्रदीप विचारि पुनि, देखें काव्य प्रकाश ।।
लता कल्प कलि देखि कै, चन्द्रालोक विचारि।
देखि कुवलयानन्द पुनि वाग्भटालंकार ।।
लखे वृत्ति रत्नावली, दर्पन वृत्ति निहारि।
वानी भषन आदि दै, छन्दोग्रन्थ निहारि ।।

(रामदास)

न जाने कितने अज्ञात अथवा अल्प-ज्ञात कवियों ने अपने जीवन की प्रखर साधना काव्य शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों के निर्माण में लगाई होगी। विस्मृति अथवा उपेक्षा से साहित्य के न जाने कितने महत्त्वपूर्ण अंग आज प्रकाश से वंचित हैं। संभव है, भविष्य में प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज में हिन्दी काव्य का यह अज्ञात वैभव पुनः हस्तगत हो सके। तभी हिन्दी साहित्य का इतिहास अधिक विश्वस्त और प्रामाणिक रूप से उपस्थित किया जा सकेगा।

कुछ कवियों और काव्य-प्रेमियों ने अपने पूर्ववर्ती और समकालीन कवियों का काव्य-संग्रह कर उन्हें साहित्य में लोकप्रिय बनाया। यह निधि आज भी सुरक्षित है। सम्भव है, भविष्य में और भी काव्य-संग्रह प्रकाश में आवें :—

१.	तुलसी	कविमाला	७५ कवियों की कविताओं का संग्रह	सं० १७१२
२.	कालिदास त्रिवेदी	कालिदास हजारा	२१२ कवियों के १०० छंदों का संग्रह	सं० १७७५
३.	भिखारीदास	काव्यनिर्णय	३३ छन्दों का काव्य की विवेचना के साथ संग्रह	सं० १७८२
४.	बलदेव	सत्कवि गिराविलास	१७ कवियों का काव्य-संग्रह	सं० १८०३
५.	सूदन	कवि नामावली	१० कवित्तों में कवियों के नाम	सं० १८१०
६.	सुब्बासिंह	विद्वान् मोद तरंगिनी	४५ कवियों का काव्य-संग्रह	सं० १८७४
७.	कृष्णानन्द व्यासदेव	राग सागरोद्भव राग कल्पद्रुम	२०० से अधिक कवियों का काव्य-संग्रह	सं० १९००
८.	सरदार कवि	शृंगार संग्रह	काव्यांगों के निरूपण के साथ १२५ कवियों का संग्रह	सं० १९०५
९.	ठाकुर प्रसाद त्रिपाठी	रसचन्द्रोदय	२४२ बुंदेलखंडी कवियों का काव्य-संग्रह	सं० १९२०
१०.	गोकुल प्रसाद	दिग्विजय भूखन	१९२ कवियों का काव्य-संग्रह	सं० १९२५
११.	हरिश्चंद्र	सुन्दरी तिलक	६९ कवियों का सवैया-संग्रह	सं० १९२६
१२.	महेशदत्त	काव्य-संग्रह	अनेक कवियों का काव्य-संग्रह	सं० १९३२

१३.	मातादीन	कवित्त रत्नाकर	२० कवियों का काव्य-संग्रह सं० १६३३
१४.	शिवसिंह सेंगर	शिवसिंह सरोज	१०० कवियों का जीवन वृत्त और उनकी कविताओं के उदाहरण सं० १६४०
१५.	नकछदी तिवारी	विचित्रोपदेश	अनेक कवियों का काव्य-संग्रह सं० १६४४
१६.	देवी प्रसाद मुंसिफ	कवि रत्नमाला	राजस्थान के १०८ कवियों का जीवनी सहित काव्य-संग्रह सं० १६६८
१७.	हफीजुल्लाहखाँ	हफीजुल्ला खाँ हज़ारा	अनेक कवियों का कवित्त और सवैया-संग्रह सं० १६७२
१८.	लाला भगवानदान	सूक्ति सरोवर	ब्रजभाषा के अनेक कवियों की साहित्य विषयक सूक्तियाँ सं० १६७६
१६.	लाला सीताराम	सेलेक्शंस फ्राम हिन्दी लिटरेचर	अनेक कवियों की आलोचना और काव्य-संग्रह सं० १६७८ से १६८४ तक

रीति-शास्त्र के इस विशाल साहित्य की विवेचना आधुनिक काल में कुछ विद्वानों द्वारा अवश्य हुई। हिन्दी के विद्वानों ने इस बात का प्रयत्न अवश्य किया कि यह विवेचना अधिक से अधिक शास्त्रीय दृष्टिकोण से की जाय। इसका विशेष कारण यह था कि इस समय पश्चिम से सम्पर्क होने के कारण ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट हुआ और बुद्धि-पक्ष के साथ विश्लेषण की प्रवृत्ति हमारे मन में विकसित हुई। सन् १८५७ के राष्ट्रीय युद्ध के उपरान्त अपने देश और साहित्य के प्रति हमारा अनुराग जागरित हुआ। इस भाँति अपने साहित्य को शास्त्रीय दृष्टि से समझने की भावना हमारे मन में उत्पन्न हुई। दूसरी बात यह है कि कालान्तर में विश्वविद्यालयों में हिन्दी का प्रवेश हुआ और इसके फलस्वरूप हिन्दी के अध्ययन के लिये समुचित ग्रन्थों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। जब परास्नातक कक्षाओं के पाठ्यक्रम में रीति-साहित्य निर्धारित

हुआ तो विद्यार्थियों को समझाने के लिए अध्यापकों द्वारा ग्रन्थ-लेखन का कार्य आवश्यक हो गया। अन्य विद्वानों ने भी इस सम्बन्ध में जो ग्रन्थ-लेखन का कार्य किया वह अधिकतर विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम को दृष्टि में रखकर किया। ऐसा भी हुआ कि जिन विद्यार्थियों ने एम० ए० की कक्षाओं में संस्कृत-साहित्य लिया वे संस्कृत काव्य-शास्त्र से परिचित हुए और उन्होंने अपने शोध-विषय के रूप में काव्य-शास्त्र को ही चुना। किन्तु अन्य विषयों की अपेक्षा काव्य-शास्त्र पर कम प्रबन्ध लिखे गए क्योंकि काव्य-शास्त्र का विषय अधिक प्रयत्न-साध्य था और अधिक शोध-छात्रों की गति संस्कृत साहित्य में नहीं-के बराबर थी। अनेक विद्वानों ने साहित्यिक अभिरुचि से भी इस विषय पर लेख और ग्रन्थ लिखे। यह कुतूहल की बात अवश्य है कि जितना अधिक साहित्य कला-काल में रीति-शास्त्र पर लिखा गया उतना ही कम साहित्य आधुनिक काल में रीति की समीक्षा पर निर्मित हुआ।

रीति-शास्त्र की समीक्षा के दो साधन थे। पहला तो यह कि आधुनिक काल में गद्य शैली समुचित रूप से परिष्कृत और सुगठित हुई। प्रत्येक प्रकार के विचारों की अभिव्यंजना के लिए उसमें यथेष्ट शक्ति और सामर्थ्य की प्रतिष्ठा हो गई थी, इसलिए गम्भीर समीक्षा के लिए गद्य का सुलभ साधन लेखकों को सहज ही प्राप्त हुआ। दूसरा यह कि आधुनिक काल में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ जिनमें विद्वानों द्वारा काव्य-शास्त्र की गहन विवेचना हो सकी। इन दोनों साधनों को प्रस्तुत करने का श्रेय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी को है। प्रथम तो उन्होंने गद्य के परिष्करण पर बहुत ज़ोर दिया। व्याकरण सम्मत भाषा और शब्दों को मूल रूप में रखने का आदर्श उन्होंने प्रतिष्ठित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतेन्दु के समय में जो भाषा तद्भव शब्दों की सम्पत्ति एकत्र कर स्वाभाविक रूप से अग्रसर हो रही थी, यह भाषा सहसा ठिठक कर रह गई और संस्कृत तत्सम शब्दों की बाढ़-सी हिन्दी के परिष्करण में प्रयुक्त होने लगी। इसका लाभ यह अवश्य हुआ कि हिन्दी का गद्य अधिक गम्भीर और समर्थ बन गया जिससे समीक्षा के गूढ़ से गूढ़ सिद्धान्त अपने अर्थ-गौरव के साथ स्पष्ट हो सके।

दूसरा यह कि वे अपने युग की सबसे महत्त्वपूर्ण मासिक पत्रिका सरस्वती के सम्पादक थे। इस पत्रिका के माध्यम से वे न केवल अपने वरन् अपने समकालीन लेखकों के विचारों का प्रचार और प्रसार कर सकते थे। वे अनेक लेखकों से उनके अधिकृत विषय पर हिन्दी में लेख लिखवाते थे और उसे भाषा और व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध कर सरस्वती में प्रकाशित भी करते थे।

इस भाँति हिन्दी गद्य को शक्ति और गाम्भीर्य प्रदान करने में पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने बहुत बड़ा कार्य किया।

अलंकार प्रकाश रस मंजरी

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के सरस्वती-सम्पादन के कुछ वर्ष पूर्व श्री कन्हैया लाल पोद्दार का ग्रन्थ 'अलंकार प्रकाश' के नाम से प्रकाशित हुआ था। इसका

रचनाकाल संवत् १६५७ (सन् १६००) है। इसमें अलंकारों के लक्षण तो गद्य में दिये गए थे और उदाहरण पद्यों में। किन्तु जब संवत् १६८३ (सन् १६२६) में श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने 'काव्य कल्पद्रुम' नाम से अपना ग्रन्थ प्रकाशित किया तो 'अलंकार प्रकाश' का रूपान्तर उन्होंने अलंकार मंजरी में करते हुए अधिक विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत की। उन्होंने उसमें अलंकारों के इतिहास पर भी विशेष प्रकाश डाला। काव्य कल्पद्रुम की प्रथम मंजरी 'रस मंजरी' और द्वितीय मंजरी 'अलंकार मंजरी' में उन्होंने काव्य के सभी अंगों पर प्रकाश डाला। रस और ध्वनि की विशेष व्याख्या उन्होंने 'रस मंजरी' में की और अलंकारों की विवेचना 'अलंकार मंजरी' में।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पोद्दार जी का पांडित्य अगाध है। उन्होंने मम्मट के काव्य प्रकाश के आधार पर अपने ग्रन्थ 'रस मंजरी' का प्रणयन किया। गद्य में लक्षण देते हुए उन्होंने उदाहरण के लिए पद्य ही चुना है। ये उदाहरण कुछ तो संस्कृत से अनुवाद-रूप में हैं और कुछ उनकी अपनी रचना के रूप में हैं। उनमें विवेचना की शक्ति तो अवश्य है किन्तु काव्य-प्रतिभा अधिक नहीं कही जा सकती।

अलंकार मंजरी

काव्य कल्पद्रुम की दूसरी मंजरी 'अलंकार मंजरी', 'अलंकार-प्रकाश' का ही विकसित रूप है। इसमें समीक्षात्मक दृष्टिकोण से अलंकार के विकास का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने ११० अलंकारों की विवेचना की है। (१०० अर्थालंकार, ६ शब्दालंकार, ४ संसृष्टि और संकर) उन्होंने अलंकारों के नवीन भेदों पर भी विचार किया है। उनके ग्रन्थ का आधार अधिकतर मम्मट, दंडी, रुद्रट और रुय्यक आदि का अलंकार सम्बन्धी दृष्टिकोण है।

श्री पोद्दार का अध्ययन गम्भीर और विस्तृत है किन्तु अपनी अहमन्यता से उन्होंने हिन्दी के काव्य-शास्त्र समीक्षकों के सम्बन्ध में जो हीन शब्द कहे हैं, वे अमर्यादित और अशोभन हैं।

रसज्ञ रंजन

श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती का सम्पादन स्वीकार करते हुए न केवल भाषा के परिष्कार और व्याकरण की शुद्धता पर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया वरन् उन्होंने प्राचीन संस्कृत साहित्य तथा अन्य भारतीय भाषाओं के विचार-वैभव को हिन्दी में लाने का भी प्रयत्न किया। उन्होंने खड़ी बोली में काव्य रचने की प्रेरणा देते हुए कवि-कर्म के सम्बन्ध में अनेक लेख लिखे। इन लेखों में प्राचीन आदर्शों की छाप अवश्य है लेकिन द्विवेदी जी ने हिन्दी की प्रकृति को परखते हुए काव्य के सम्बन्ध में अनेक व्यावहारिक सुझाव दिए। द्विवेदी जी के इन लेखों में उनके अध्ययन की गम्भीरता के साथ उनका अनुशीलन और चिन्तन भी व्यक्त होता है। वे कविता के सम्बन्ध में लिखते हैं :—

"नाना प्रकार के विकारों के योग से उत्पन्न हुए मनोभाव जब मन में नहीं समाते तब वे आप ही आप मुख के मार्ग से बाहर निकलने लगते हैं अर्थात् मनोभाव शब्दों का रूप धारण करते हैं। यही कविता है चाहे वह पद्यात्मक हो चाहे गद्यात्मक ।[1]

इसी से स्पष्ट होता है कि द्विवेदी जी कविता के लिए, छन्दों को अनिवार्य नहीं मानते । द्विवेदी जी के ऐसे समीक्षात्मक लेखों का संग्रह 'रसज्ञ रंजन' के नाम से सन् १६१० में प्रकाशित हुआ ।

काव्य प्रभाकर

श्री जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने काव्य के अनेक अंगों पर विचार करते हुए संवत् १६६७ (सन् १६१०) में 'काव्य प्रभाकर' नामक ग्रन्थ की रचना की । काव्य के सम्बन्ध में जितनी भी विवेचनाएँ हो सकती हैं तथा काव्य का विभाजन जितने भी अंगों में हो सकता है, उनका सम्पूर्ण विवेचन इस महान् ग्रन्थ में हुआ है । काव्य प्रभाकर ग्रन्थ बारह मयूखों में लिखा गया है । पहले मयूख में छन्दों की विवेचना और विवरण है । दूसरे मयूख में काव्य का प्रयोजन तथा ध्वनि वर्णन है । तीसरे मयूख में नायिका भेद, चौथे मयूख में उद्दीपन वर्णन, पाँचवे मयूख में अनुभाव वर्णन, छठे मयूख में संचारी भाव, सातवें मयूख में स्थायी भाव, आठवें मयूख में रस वर्णन, नवें मयूख में अलंकार वर्णन, दसवें मयूख में दोष वर्णन, ग्यारहवें मयूख में काव्य निर्णय और बारहवें मयूख में कोष-लोकोक्ति संग्रह है ।

इस प्रकार पिंगल, ध्वनि, रस, अलंकार और पद-रचना के साथ दोषों पर विचार करते हुए लेखक ने इस ग्रन्थ में काव्य प्रेमियों तथा काव्य-समीक्षकों के लिए प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की है । यह बात अवश्य कही जा सकती है कि भानुकवि ने काव्य सम्बन्धी अपना कोई नवीन सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया तथापि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित विविध सिद्धान्तों की जितनी भी महत्त्वपूर्ण विवेचनाएँ हैं, उन्हें सुलझे हुए ढंग से काव्य-प्रभाकर में सुसज्जित किया । प्राचीन हिन्दी काव्य से लेकर रीति-काव्य के प्रमुख कवियों के उदाहरण यथा-स्थान प्रचुर मात्रा में संग्रहीत हैं, इससे यह ग्रन्थ काव्य-प्रेमियों के लिए बड़ा ही लाभ-दायक हो गया है । एक-ही स्थान पर काव्य-सम्पत्ति का इतना बड़ा कोष हिन्दी काव्य-प्रेमियों के लिए दुर्लभ है ।

मिश्रबन्धु विनोद

श्री गणेशबिहारी मिश्र, डॉ० श्यामबिहारी मिश्र तथा श्री शुकदेवबिहारी मिश्र द्वारा लिखित मिश्रबन्धु विनोद के तीन भाग संवत् १६७० में हिन्दी ग्रन्थ प्रसारक मण्डली खंडवा व प्रयाग से प्रकाशित हुए । इनमें द्वितीय भाग पूर्वालंकृत हिन्दी (संवत् १६८१-१७६०) तक कला-काल से सम्बन्ध रखता है । इसमें अट्ठारहवें

---

१. रसज्ञरंजन—पृष्ठ ३८ ।

अध्याय से इकतीसवें अध्याय तक कला-काल के सभी प्रमुख कवियों का परिचय है एवं उनके काव्य के उदारहण प्रस्तुत किए गये हैं। सेनापति-काल, बिहारी-काल, भूषण-काल, आदिम-देव-काल, माध्यमिक देव-काल, उत्तरालंकृत हिन्दी, दास-काल, सूदन-काल, रामचन्द्र-काल, बेनी-प्रवीण-काल, पद्माकर-काल और अज्ञात-काल में १४ अध्याय लिखे गए हैं। प्रत्येक कवि के काल में अन्य सामान्य कवियों का विवरण भी प्राप्त हो जाता है। ये विवरण अधिकतर परिचयात्मक ही कहे जा सकते हैं, किन्तु यह निर्विवाद है कि मिश्रबन्धुओं के द्वारा कवियों के ये विवरण काफी खोजकर और विचार-विमर्श कर प्रस्तुत किए गये हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में मिश्रबन्धुओं के विनोद का आलोचनात्मक दृष्टि से विशेष महत्त्व न हो, तथापि प्रारम्भिक सामग्री को सुथरे ढंग से स्पष्ट करने के कारण उसे ऐतिहासिक महत्त्व तो प्राप्त होना ही चाहिए।

अलंकार मंजूषा

साहित्य के इतिहास में अलंकारों की विवेचना की दृष्टि से श्री भगवानदीन 'दीन' की 'अलंकार मंजूषा' सुबोध पुस्तक है। इसका प्रकाशन सं० १९७३ (सन् १९१६) में हुआ। दीन जी ने सम्भवतः इसे विद्यार्थियों के पठन-पाठन की दृष्टि से ही लिखा। दोहों में अलंकारों के लक्षण लिखकर उन्होंने प्राचीन कवियों के उत्कृष्ट छन्दों को चुन कर बहुत ही सरस और अर्थपूर्ण उदाहरण दिए हैं जिससे वे सहज ही स्मृति में अंकित हो जायँ। इस अलंकार मंजूषा में चार पटल हैं। प्रथम पटल में शब्दालंकार, द्वितीय पटल में अर्थालंकार, तृतीय पटल में उभयालंकार और चतुर्थ पटल में दोष-कोष है। अलंकारों के लक्षण देकर वे साम्य रखने वाले अलंकारों से दोनों के बीच का अन्तर भी स्पष्ट कर देते हैं जिससे विद्यार्थी के मन की अस्पष्टता और उलझन दूर हो जाय। इसमें कोई शास्त्रीय विवेचन नहीं है तथापि अलंकारों का व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है।

अलंकार पीयूष

डॉ० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने अपने डी० लिट् के अनुसन्धान-कार्य के लिए हिन्दी काव्यशास्त्र के विकास (The Evolution of Hindi Poetics) विषय चुना था और उसके आधार पर उन्होंने दो भागों में 'अलंकार पीयूष' नाम का ग्रन्थ सं० १९८६ (सन् १९२९) में लिखा। इसमें कोई संदेह नहीं कि डॉ० रसाल ने पूर्ण मनोयोग और गम्भीर विवेचन के फल-स्वरूप ही यह ग्रन्थ लिखा। उन्होंने संस्कृत काव्य-शास्त्र का गहन अध्ययन कर अलंकार के सम्बन्ध में जो निष्कर्ष निकाले हैं वे अवश्य ही तर्क-सम्मत और विश्वसनीय हैं। उन्होंने रस, ध्वनि और अलंकार के पारस्परिक सम्बन्ध का निरूपण बहुत योग्यता से किया है। उन्होंने अलंकारों का विश्लेषण करते हुए कुछ नवीन अलंकारों का भी निर्देशन किया है। इस ग्रन्थ की तुलनात्मक दृष्टि बहुत महत्वपूर्ण है। संस्कृत और हिन्दी के काव्या-

चार्यों के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन करने में रसाल जी ने अपनी संतुलित दृष्टि का परिचय दिया है। लेखक की दृष्टि में रस और भाव नाट्य-शिल्प में आवश्यक हैं, काव्य में तो अलंकार ही आधिकारिक तत्व है। इस मत से अन्य विद्वान भले ही सहमत न हों पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि 'अलंकार पीयूष' शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से एक अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

भारती भूषण

सेठ अर्जुनदास केडिया ने भी अलंकारों के गम्भीर अध्ययन के फल-स्वरूप 'भारती भूषण' की रचना संवत् १९८७ (सन् १९३०) में की। भारती भूषण की विशेषता इस बात में है कि लक्षण और उदाहरण एक-दूसरे पर किस प्रकार घटित होते हैं तथा अलंकारों के सम्बन्ध में जो नवीन दृष्टि अध्येता के समक्ष होनी चाहिए, उसका विवरण टिप्पणियों द्वारा स्पष्ट कर दिया है। उदाहरणों की सरसता के लिए यह ग्रंथ किसी प्रकार 'अलंकार मंजूषा' से हीन नहीं है। लेखक ने स्वरचित उदाहरण भी यथा-स्थान दिए हैं। अलंकारों का सूक्ष्म अध्ययन करने के लिए यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

रस-कलश

संवत् १९८८ (सन् १९३१) के महाकवि अयोध्या सिंह उपाध्याय ने एक अत्यन्त सरस और मीमांसापूर्ण ग्रन्थ की रचना की। उसका नाम 'रस-कलश' है। रस-कलश वास्तव में अपने नाम के अनुरूप ही है। इसमें रस की जितनी मनोवैज्ञानिक और सरस अभिव्यक्ति है, उतनी आधुनिक युग में लिखे गए, किसी ग्रन्थ में देखने को नहीं मिलती। प्रारम्भ में २२९ पृष्ठों की विस्तृत भूमिका है जिसमें महाकवि ने रस और नायिका-भेद की परम्परा के औचित्य पर विचार करते हुए अनेक समस्याओं का समाधान किया है। भले ही हरिऔध जी ने किसी नवीन सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना न की हो फिर भी प्राचीन सिद्धान्तों की तथ्यपूर्ण विवेचना द्वारा उन्होंने समस्त विषय को स्पृहणीय बना दिया है।

ग्रन्थ में लक्षण गद्य में समझाए गए हैं और उदाहरण सुललित ब्रजभाषा पद्य में दिए गये हैं। महाकवि की लेखनी से प्रसूत होकर ये उदाहरण उत्कृष्ट कविता के उदाहरण भी हैं। हरिऔध जी में कवि-प्रतिभा इतनी उदात्त थी कि जिस सरलता से वे खड़ी बोली में रचना कर सकते थे, उतनी ही सरलता से वे ब्रजभाषा-काव्य की भी सृष्टि कर सकते थे। इस ग्रंथ से यह स्पष्ट हो जाता है कि हरिऔध जी जितने बड़े कवि थे, उतने ही बड़े समीक्षक भी। उन्होंने काव्य-प्रकाश, रस गंगाधर, साहित्य दर्पण आदि ग्रंथों का आधार लेते हुए भी अपनी समीक्षा में मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने केवल श्रृंगार रस का ही विश्लेषण नहीं किया प्रत्युत् अन्य रसों की भी विवेचना करते हुए बड़े उपयुक्त और भावपूर्ण स्वरचित उदाहरण दिए हैं। उन्होंने वात्सल्य को भी रस के अन्तर्गत विशिष्ट मान्यता दी तथा नायिका-भेद की उपयोगिता और स्वाभाविकता साहित्य के अन्तर्गत स्पष्ट की।

यही नहीं, उन्होंने देश-काल के दृष्टिकोण से नायिका-भेद के वर्गीकरण में नवीन नायिकाओं की परिकल्पना भी की। उत्तमा नायिका के अन्तर्गत पति-प्रेमिका, परिवार-प्रेमिका, जाति-प्रेमिका, देश-प्रेमिका, जन्म-भूमिका, लोक-सेविका आदि भेद प्रस्तुत किए। आज भी राजनीति में हम अनेक नायिकाओं को देख सकते हैं जो देश-प्रेमिका, जन्म-भूमिका या लोक-सेविका हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि महाकवि हरिऔध ने 'काव्य-सागर' का मंथन कर जो 'रसकलश' निकाला है, उसमें पुरातन सिद्धान्तों को देश-काल की स्थिति में परिवर्तित कर और नवीन मान्यताओं से जोड़ कर साहित्य संसार में सरसता और विमलता की सृष्टि की है। शृंगार रस का अजस्र स्रोत प्रवाहित कर उनके उदाहरण की किसी भी लहर में अश्लीलता का सेवार नहीं है। पद्माकर के शब्दों में 'सोने में सुगन्ध न सुगन्ध में सुनो री सोनो, सोनो और सुगन्ध तोमें दोई पाइयतु हैं।' जैसी उक्ति रस-कलश के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

साहित्य सागर

श्री बिहारी लाल भट्ट ने 'साहित्य सागर' की रचना संवत् १९९४ (सन् १९३७) में की। बिजावर नरेश महाराज सामंतसिंह के प्रोत्साहन से यह ग्रन्थ लिखा गया। यह साहित्य सागर पन्द्रह तरंगों में विभक्त है। इस ग्रन्थ में साहित्य के सभी अंगों की विवेचना है। काव्य, छंद, वृत्ति, ध्वनि, रस, नायिका-भेद, गुण-दोष, अलंकार आदि सभी अंगों पर प्राचीन ग्रन्थों—विशेषकर साहित्य-दर्पण और रस गंगाधर के आधार पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इस ग्रन्थ में विशेष बात यह है कि नायिका-भेद आध्यात्मिक दृष्टिकोण से निरूपित किया गया है। स्वकीया, परकीया और गणिका को क्रमशः सत्, रज और तम वृत्तियों के समान कहा गया है। स्वकीया सतोगुणी वृत्ति है जो केवल मात्र आत्मा से ही प्रेम करती है। परकीया रजोगुणी वृत्ति है जो आत्मा के अतिरिक्त संसार के अनेक वैभवों में अपना प्रतिबिम्ब देखती है और गणिका तमोगुणी वृत्ति है जो न तो पूर्ण रूप से आत्मा में रमण करती है और न संसार में। उसका प्रेम ही वास्तविक नहीं है, वह परिस्थिति-भेद से सब कहीं जा सकती है, कहीं स्थिर होकर नहीं रह सकती। इस भाँति नायिका-भेद का निरूपण एक नवीन शैली में किया गया है।

इसमें लक्षण और उदाहरण दोनों ही पद्य में दिए गए हैं। यद्यपि इस ग्रन्थ की समस्त रूपरेखा प्राचीन परिपाटी के अनुसार ही है तथापि विचारों की दृष्टि से इसमें नवीन दिशाएँ भी परिलक्षित हुई हैं। संस्कृत के प्राचीन आचार्यों से काव्य की प्रेरणा कवि बिहारी लाल भट्ट ने इस ग्रन्थ से हिन्दी काव्य-शास्त्र के अध्येताओं को नई दृष्टि देने की चेष्टा की है।

साहित्य पारिजात

संवत् १९९७ (सन् १९४०) में 'साहित्य-पारिजात' की रचना श्री शुकदेव

बिहारी मिश्र तथा पं० प्रतापनारायण मिश्र ने की। इस ग्रन्थ में मिश्र-द्वय की विवेचना-शक्ति के दर्शन होते हैं। उन्होंने काव्य की मीमांसा अधिकतर पंडितराज जगन्नाथ के 'रस गंगाधर' के आधार पर ही की है। काव्य के भेदों का आधार भिखारी दास का 'काव्य-निर्णय' ग्रन्थ है। अलंकारों के लिए उन्होंने दूलह का 'कवि-कुल कंठाभरण' ग्रन्थ अधिक भावक और व्यावहारिक माना है। किन्तु इसके साथ ही साथ उन्होंने अलंकारों की विवेचना में अपना स्वतंत्र मत अनेक स्थानों पर प्रकट किया है। उन्होंने अनेक लक्षण ग्रंथों के आधार पर अपनी परिभाषाएँ और व्याख्याएँ खड़ी बोली गद्य में दी हैं और उदाहरण ब्रजभाषा के चुने हुए पद्यों से दिए हैं। इस ग्रन्थ से मिश्र-द्वय के अध्ययन और पांडित्य का परिचय मिलता है। भाषा कहीं-कहीं क्लिष्ट और दुर्बोध है किन्तु ग्रन्थ में जो विवेचना है, वह काव्य-शास्त्र के स्पष्टीकरण के लिए सहायक है।

चिन्तामणि, काव्य में रहस्यवाद, रसमीमांसा

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मध्यकालीन काव्य के अधिकारी विद्वान् थे और उन्होंने काव्य-शास्त्र की समीक्षा आधुनिक मनोविज्ञान की कसौटी पर कसकर बड़े ही मनोरंजक ढंग पर की। उन्होंने प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों को तर्क की कसौटी पर कस कर तथा जीवन के अनुभूत उदाहरणों से जोड़ कर स्पष्ट ही नहीं किया वरन् उत्कृष्ट काव्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी किया। प्राचीन सिद्धान्त जब आधुनिक चिन्तन के परिपार्श्व में उपस्थित होते हैं तो हमें काव्य के उन शाश्वत मूल्यों का पता लगता है जो अभी तक परम्परा द्वारा एक ही प्रकार से समझाए जाते रहे हैं। आचार्य शुक्ल ने काव्य के सभी अंगों पर प्रकाश डाल कर उनमें मनोवैज्ञानिक ज्योति उद्भासित कर दी। सामान्य रूप से वे रस को ही काव्य में मुख्य तत्व मानते हैं, यद्यपि उन्होंने वक्रोक्ति और ध्वनि को भी काव्य में उपयुक्त महत्त्व प्रदान किया है। संवत् १९७९ से वे काव्य-मीमांसा विषय पर निबन्ध लिखते रहे और वे समय-समय पर विविध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशन भी होते रहे। साथ ही साथ वे चित्त की विविध वृत्तियों का विश्लेषण करने में बहुत रस लेते रहे। कालान्तर में उनका 'काव्य में रहस्यवाद' संवत् १९८६ (सन् १९२९), चिन्तामणि संवत् १९९६ (सन् १९३९) और श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित 'रस मीमांसा' संवत् २००६ (सन् १९४९) में प्रकाशित हुए। चिन्तन पक्ष से आचार्य शुक्ल जी जितने प्रशस्त हैं, सिद्धान्त-निरूपण की दृष्टि से उतने ही समर्थ हैं। उनकी विवेचन-पद्धति से जहाँ प्राचीन साहित्य अधिक गरिमा-सम्पन्न होकर हमारे सामने आया, वहाँ आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन में नवीन दृष्टिकोण उपलब्ध हुए। उन्होंने हमारी समालोचना-पद्धति को नया मोड़ दिया और वे एक महान् समीक्षक के रूप में मान्य हुए। उनका रस-मीमांसा ग्रन्थ काव्य, काव्य के विभाग, काव्य का लक्षण, विभाव, भाव, रस और शब्द-शक्ति की विवेचना

करने में अप्रतिम है। उनकी शैली में जहाँ आचार्यत्व की छाप देखने को मिलती है वहाँ शिक्षक की अध्यापन-शैली भी। प्राचीन काव्य-शास्त्र की समीक्षा करने में आचार्य शुक्ल का योगदान स्थायी रहेगा, इसमें सन्देह नहीं।

साहित्यालोचन

आचार्य श्यामसुन्दर दास ने प्राचीन ग्रन्थों का संग्रह और सम्पादन करने में विशेष कार्य किया। इस कार्य ने उन्हें काव्य-शास्त्र की समीक्षा करने की प्रेरणा प्रदान की। साथ ही अपने अध्यापन कार्य को सुचारुता प्रदान करने के लिए उनके मन में भारतीय और योरपीय विद्वानों के आलोचना सम्बन्धी विचारों को सुसम्बन्ध करने की आकांक्षा भी बहुत दिनों से रही। फलस्वरूप संवत् १९७९ (सन् १९२२) में उनका ग्रन्थ 'साहित्यालोचन' प्रकाशित हुआ। अपने दृष्टिकोण के सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं ग्रन्थ की भूमिका में लिखा—

"मेरा उद्देश्य इस ग्रन्थ को लिखने का यह रहा कि भारतीय और योरपीय विद्वानों ने आलोचना के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उसके तत्वों को लेकर इस रूप में सजा दूँ कि जिसमें हिन्दी के विद्यार्थियों को किसी ग्रन्थ के गुण-दोष की परख करने और साथ ही ग्रन्थ-निर्माण या काव्य-रचना में कौशल प्राप्त करने अथवा दोषों से बचने में सहायता मिल जाय। इस दृष्टि से मैं कह सकता हूँ कि इस ग्रन्थ की समस्त सामग्री मैंने दूसरों से प्राप्त की है। परन्तु सामग्री को सजाने, विषय को प्रतिपादित करने तथा उसे हिन्दी भाषा में व्यञ्जित करने में मैंने अपनी बुद्धि से काम लिया है। अतएव मैं कह सकता हूँ कि एक दृष्टि से यह ग्रन्थ मौलिक है और दूसरी दृष्टि से दूसरे ग्रन्थों का निचोड़ है।"[1]

लेखक के इस कथन से उनके ग्रन्थ साहित्यालोचन का परिचय मिल जाता है। आचार्य श्यामसुन्दर दास ने काव्य के विविध अंगों पर प्रभूत सामग्री एकत्र की है और उसे उन्होंने भारतीय और पश्चिमी विद्वानों की दृष्टि से विचार कर एक ही स्थान पर एकत्र कर दिया है। इस ग्रन्थ में ७ अध्याय हैं जिनमें अग्रलिखित विषयों पर विचार किया गया है—

(१) कला का विवेचन, (२) साहित्य का विवेचन, (३) काव्य का विवेचन, (४) कविता का विवेचन, (५) गद्य काव्य का विवेचन, (६) रस और शैली, (७) साहित्य की आलोचना। परिशिष्ट १—साहित्य की आत्मा और शक्ति। २—हिन्दी साहित्य शास्त्र के कतिपय पारिभाषिक शब्द। ३—आलोचनाशास्त्र विषयक ग्रन्थों की सूची (अँग्रेजी)। आचार्य श्यामसुन्दर दास ने किसी नये सिद्धान्त की अवतारणा नहीं की, किन्तु काव्य-शास्त्र सम्बन्धी सभी समस्याओं पर गम्भीरता-पूर्वक विचार किया है। विषय-निरूपण की शैली विद्वत्तापूर्ण है और उनका विवेचन प्रामाणिक माना जा सकता है।

---

१. साहित्यालोचन—(श्यामसुन्दर दास) मिका।

साहित्य मीमांसा

डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री ने संवत् १९९८ (सन् १९४१) में 'साहित्य मीमांसा' नाम के ग्रन्थ की रचना की। उन्होंने भी साहित्य-विषयक सामग्री भारतीय और पश्चिमीय ढंग से प्रस्तुत की। डॉ० सूर्यकान्त की विवेचना पद्धति व्यावहारिक और सुबोध है किन्तु सिद्धान्तों की दृष्टि से उनकी ओर से कोई नवीन स्थापना नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विद्यार्थियों की दृष्टि से उनका ग्रंथ सुपाठ्य और उपयोगी है।

काव्य में अभिव्यंजना वाद, जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त

श्री लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु' हिन्दी के उन स्वस्थ चिन्तकों में हैं जिन्होंने काव्य-शास्त्र की समीक्षा नई विचार-सरणियों के माध्यम से की है। प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों को तर्क और विश्लेषण के आधार पर निरूपित करते हुए उन्होंने अपनी मान्यता से निष्कर्ष की कई दिशाओं की ओर संकेत किया है। उनकी प्रथम पुस्तक 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' संवत् १९८६ (सन् १९२९) में प्रकाशित हुई। इसमें रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि आदि पर विचार किया गया है। उनके विचार से प्राचीन काव्य शास्त्रियों को काव्य-वस्तु के विधान पर विचार न कर काव्य-वस्तु की प्रकृति पर विचार करना चाहिए था। इसी प्रकार अलंकारों की संख्या क्रमशः जो बढ़ती गई है, उससे 'अलंकार' साधन न रह कर साध्य बनता हुआ प्रतीत होता है।

दूसरी पुस्तक 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' संवत् २०१८ (सन् १९६१) में प्रकाशित हुई। इसमें लेखक का दृष्टिकोण जीवन के तत्व और काव्य के तत्वों में सामञ्जस्य निरूपित करने का है। पुस्तक दस अध्यायों में लिखी गई है। इसमें सन्देह नहीं कि लेखक ने जीवन की प्रवृत्तियों और काव्य के तत्वों पर बड़ी गहराई से विचार किया है। इस ग्रन्थ में लेखक ने अधिकतर अपने विचार-वैभव की सम्पत्ति संचित की है। यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि श्री सुधांशु जी ने काव्य पर बिना किसी पूर्वाग्रह के विचार किया है और उन्होंने काव्य-शास्त्र के सम्बन्ध में नवीन तथ्यों का प्रतिपादन किया है। यदि वे अपनी चिन्ता-धारा में रीति-शास्त्र के देश-काल का विचार भी रखते तो काव्य के सिद्धान्तों में इतनी अधिक नवीन स्थापनाओं की आवश्यकता न होती। उन्होंने अनेक स्थलों पर आधुनिक दृष्टिकोण से विचार किया है। ऐसी स्थिति में नई मान्यताएँ तो सदैव ही सम्भव हो सकती हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से रस की समीक्षा, नायिका भेद

डॉ० छैलविहारी गुप्त 'राकेश' ने अपनी डी० फिल्० डिग्री का शोध-निबंध (Interpretation of Rasa from the Point of View of Modern Psychology) 'इन्टरप्रिटेशन आफ रस फ्राम दि प्वाइंट आफ वियू आफ मार्डन

साइकालाजी' पर लिखा था। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से रस की समीक्षा उसका परिवर्द्धित रूप है। डॉ० राकेश ने विस्तृत अध्ययन और मनोयोग से इस विषय का विवेचन किया है। उन्होंने संस्कृत के काव्याचार्यों की समीक्षा और उनके सिद्धान्तों को मनोविज्ञान के निकष पर परखने की चेष्टा की है। रस का विवेचन आधुनिक दृष्टिकोण से करके उन्होंने नायिका-भेद विषय पर डी० लिट्० डिग्री प्राप्त की। यह ग्रंथ भी विषय-विवेचन की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है। नायिकाओं के निरूपण में उन्होंने मनोविज्ञान की प्रतिष्ठा भी की है।

हिन्दी पिंगल

स्वर्गीय डॉ० जानकी नाथ सिंह 'मनोज' ने काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत पिंगल पर गम्भीर चिन्तन कर यह शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया। जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' के 'छंद प्रभाकर' को दृष्टि में रख कर उन्होंने पिंगल के विषय में जो गवेषणा की है, वह निश्चय ही उनकी विवेचना-शक्ति का परिचय देती है। पिंगल पर यह एक अत्यंत प्रामाणिक ग्रंथ कहा जा सकता है।

सिद्धान्त और अध्ययन, काव्य के रूप

डॉ० गुलाबराय ने 'सिद्धान्त और अध्ययन' नाम की पुस्तक में काव्य-शास्त्र की सभी प्रमुख समस्याओं की चर्चा की है और उनकी समीक्षा भी वैज्ञानिक ढंग की है। विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक उपयोगी है क्योंकि विविध विषयों का प्रतिपादन सुबोध शैली में किया गया है।

गुलाबराय जी की दूसरी पुस्तक 'काव्य के रूप' भी प्रकाशित हुई जिसमें काव्य की विविध शैलियों का निरूपण हुआ है।

काव्यालोक, काव्य दर्पण

आचार्य रामदहिन मिश्र ने 'काव्यालोक' नामक एक महत्त्वपूर्ण कृति का प्रणयन किया। आचार्य मिश्र ने अपने प्रखर पाण्डित्य से प्राचीन संस्कृत के आचार्यों तथा हिन्दी के रीति-कवियों की गहरी विवेचना की है। उन्होंने काव्य की अनेक समस्याओं का समाधान बड़ी विद्वत्ता से किया है। उन्होंने काव्य के विविध अंगों की व्याख्या की है और उदाहरण में खड़ी बोली के काव्य-अवतरणों को भी उद्धृत किया है। इसमें काव्य के विविध रूपों की व्याख्या व्यवस्थित ढंग से की गई है।

भारतीय साहित्य शास्त्र

'भारतीय साहित्य शास्त्र' की रचना आचार्य बलदेव उपाध्याय ने की। इसके दो भाग हैं। पहला भाग काव्य से सम्बन्धित है और दूसरा भाग काव्य के सिद्धान्तों से। संस्कृत काव्य-शास्त्र की विस्तृत समीक्षा इस ग्रंथ में प्राप्त होती है। अनेक ग्रंथों के अनुशीलन के फलस्वरूप आचार्य उपाध्याय ने इस ग्रंथ में काव्य के विविध प्रसंगों पर प्रकाश डाला है। आलोचना के क्षेत्र में इस ग्रंथ की उपादेयता असंदिग्ध है।

वाङमय विमर्श

आचार्य विश्वनाथ मिश्र ने 'वाङमय विमर्श' लिखा जिसके प्रथम खण्ड में काव्यशास्त्र का और दूसरे खण्ड में इतिहास का विवेचन किया गया है। आचार्य मिश्र के गम्भीर अध्ययन की छाप प्रत्येक पृष्ठ पर मिलती है। विद्यार्थियों के अध्ययन की दृष्टि से इसे संक्षिप्त रूप में ही लिखा गया है। पाश्चात्य दृष्टिकोण का समावेश भी उन्होंने विषय-निरूपण के अन्तर्गत कर दिया है।

रीतिकाव्य की भूमिका, भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा

डॉ० नगेन्द्र ने अपने डी० लिट्० के शोध विषय के लिए 'रीतिकाल और महाकवि देव' चुना है। इस सम्बन्ध में उन्होंने समस्त प्राप्त सामग्री का अध्ययन कर इस विषय की गम्भीर गवेषणा की। डॉ० नगेन्द्र पश्चिम के समालोचना-सिद्धान्तों से पूर्ण परिचित हैं, अतः उनकी समीक्षात्मक दृष्टि हिन्दी काव्य-शास्त्र के समस्त तत्त्वों का अन्तर्दर्शन करने में समर्थ हुई है। रीति-काल के अध्ययन के लिए इस ग्रन्थ में प्रचुर सामग्री है।

इस अध्ययन के साथ ही डॉ० नगेन्द्र ने इस क्षेत्र में अन्य विद्वानों से भी कार्य कराया है। उन्होंने संस्कृत के प्राचीन काव्याचार्यों के ग्रंथ हिन्दी में अनुवाद कराकर उन पर विस्तृत भूमिकाएँ लिखी हैं। 'हिन्दी अभिनव भारती' अभिनव-गुप्त पादाचार्य के प्रख्यात ग्रंथ 'अभिनव भारती' का अनुवाद आचार्य विश्वेश्वर द्वारा किया गया। 'हिन्दी काव्य मीमांसा' नाम से राजशेखर के प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्य मीमांसा' का अनुवाद डॉ० उदयभानु सिंह ने किया। 'हिन्दी वक्रोक्ति जीवित' आचार्य कुन्तक के 'वक्रोक्तिजीवितम्' का अनुवाद आचार्य विश्वेश्वर द्वारा हुआ और 'हिन्दी काव्यालंकार सूत्र' आचार्य वामन के प्रसिद्ध ग्रंथ 'काव्यालंकार सूत्र' का अनुवाद भी आचार्य विश्वेश्वर ने किया। इन सभी ग्रंथों की पांडित्य-पूर्ण भूमिकाएँ डॉ० नगेन्द्र ने लिखीं। इस भाँति रीति-काव्य के क्षेत्र में डॉ० नगेन्द्र ने अविस्मरणीय कार्य किया।[1]

हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास

सन् १९४७ में डॉ० भगीरथ मिश्र ने अपनी पी-एच० डी० के शोध विषय के रूप में 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास' लिखा। यह ग्रन्थ डॉ० मिश्र के विस्तृत अध्ययन और गहन अन्वेषण का परिणाम है। यह ग्रंथ छः अध्यायों में लिखा गया—काव्य-शास्त्र का स्वरूप, विषय और सीमा, हिन्दी काव्य-शास्त्र का प्रारम्भ और विकास, रीति-ग्रंथों का विस्तार और उत्कर्ष, काव्य-शास्त्र पर आधुनिक साहित्य, कवियों की स्वच्छन्द रचनाओं में प्राप्त काव्यादर्शों का अध्ययन और काव्य-शास्त्र की आधुनिक समस्याएँ। सम्पूर्ण ग्रंथ एक संतुलित दृष्टिकोण से लिखा गया

---

१. सन् १९६४ में डॉ० नगेन्द्र का 'रस-सिद्धान्त' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ भी प्रकाशित हुआ।

है और उसमें काव्य की समस्त शास्त्र-सम्मत मान्यताओं का विश्लेषण और विवेचन किया गया है। साथ ही आधुनिक काव्य में प्रचलित सभी वादों की विवेचना निष्पक्ष रूप से की गई है। काव्य-शास्त्र के अध्ययन के लिए इस ग्रंथ की उपयोगिता बहुत अधिक है।

समीक्षा शास्त्र और अभिनव नाट्य शास्त्र

पं० सीताराम चतुर्वेदी लिखित 'समीक्षा-शास्त्र' और 'अभिनव नाट्य-शास्त्र' बड़े विस्तार से लिखे गए हैं। इनमें चतुर्वेदी जी के अध्ययन और अनुभव की दीर्घकालीन राशि संचित है। यदि लेखक महोदय अपने विचारों को संक्षिप्त और संतुलित रखते तो उनके ग्रन्थ अधिक प्रभावपूर्ण और अध्ययन को अधिक सुगम बना सकते थे।

शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने गम्भीर अन्वेषण और चिन्तन के फलस्वरूप 'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त' भाग १-२ ग्रंथ का निर्माण किया। संस्कृत के आचार्यों की मान्यताओं को अपने सामने रख कर डॉ० त्रिगुणायत ने काव्य के सभी अंगों पर प्रकाश डाला है। उनकी विवेचन-पद्धति एक अध्यापक की विवेचन-पद्धति है और इसीलिए यह ग्रंथ विद्यार्थियों के लिए विशेष उपयोगी है।

साहित्य शास्त्र

डॉ० रामकुमार वर्मा (प्रस्तुत लेखक) ने साहित्य-शास्त्र ग्रंथ का निर्माण सन् १९५७ में किया। इसमें समीक्षा-पद्धति को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखकर साहित्य के शाश्वत मूल्यों का निर्धारण किया गया है। परम्परा और प्रयोग का पारस्परिक सम्बन्ध तथा साहित्य पर उनका प्रभाव समस्त अन्वितियों को लेकर प्रदर्शित हुआ है। इसका निर्माण इस दृष्टि को लेकर भी किया गया कि साहित्य की आलोचना उसकी मूल प्रकृति को ही लेकर अग्रसर होनी चाहिए। तथ्य-निरूपण में संस्कारों और प्रभावों की दृष्टि किसी प्रकार भी उपेक्षित नहीं होनी चाहिए।

नागरी प्रचारिणी सभा के तत्त्वावधान में हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास के प्रकाशन की योजना निश्चित हुई है। 'इस योजना के अंतर्गत हिन्दी साहित्य का व्यापक तथा सर्वांगीण इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।' इसे सत्रह भागों में प्रकाशित होना है। इसकी योजना इस प्रकार है :—

भाग	विषय और काल	सम्पादक
प्रथम	हिन्दी साहित्य की पीठिका	डॉ० राजबली पाण्डेय
द्वितीय	हिन्दी भाषा का विकास	डॉ० धीरेन्द्र वर्मा

भाग	विषय और काल	सम्पादक
तृतीय	हिन्दी साहित्य का उदय और विकास १४०० वि० तक	डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी
चतुर्थ	भक्तिकाल (निर्गुण भक्ति) १४००-१७०० वि०	पं० परशुराम चतुर्वेदी
पंचम	भक्तिकाल (सगुण भक्ति) १४००-१७०० वि०	डॉ० दीनदयाल गुप्त
षष्ठ	श्रृंगारकाल (रीतिबद्ध) १७००-१९०० वि०	डॉ० नगेन्द्र
सप्तम	श्रृंगारकाल (रीति मुक्त) १७००-१९०० वि०	पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
अष्टम	हिन्दी साहित्य का अभ्युत्थान भारतेन्दु काल १९००-५० वि०	डॉ० विनय मोहन शर्मा
नवम	हिन्दी साहित्य का परिष्कार द्विवेदीकाल १९५०-७५ वि०	डॉ० रामकुमार वर्मा
दशम	हिन्दी साहित्य का उत्कर्ष काल १९७५-९५ वि०	पं० नन्ददुलारे बाजपेयी
एकादश	हिन्दी साहित्य का उत्कर्ष काल (नाटक) १९७५-९५ वि०	श्री जगदीशचन्द्र माथुर
द्वादश	हिन्दी साहित्य का उत्कर्ष काल (उपन्यास-कथा आख्यायिका) १९७५-९५ वि०	डॉ० श्रीकृष्णलाल
त्रयोदश	हिन्दी साहित्य का उत्कर्ष काल १९७५-९५ वि०	श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु
चतुर्दश	हिन्दी साहित्य का अद्यतन काल १९९५-२०१० वि०	डॉ० रामअवध द्विवेदी
पंचदश	हिन्दी में शास्त्र तथा विज्ञान	डॉ० विश्वनाथ प्रसाद
षोडश	हिन्दी का लोक-साहित्य	म० पं० राहुल सांकृत्यायन
सप्तदश	हिन्दी का उन्नयन	डॉ० सम्पूर्णानन्द

इस इतिहास के प्रथम और षष्ठ भाग प्रकाशित हो गए हैं। षष्ठ भाग डॉ० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित श्रृंगारकाल (रीतिबद्ध) १७००-१९०० वि० है, जो प्रस्तुत विषय से सम्बन्ध रखता है। इस भाग के दस लेखक हैं—डॉ० नगेन्द्र, डॉ० भगीरथ मिश्र, डॉ० श्रीमाली, डॉ० सावित्री सिन्हा, डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, डॉ० ओमप्रकाश, डॉ० सत्यदेव चौधरी, डॉ० मनम ोहन गौतम, डॉ० बच्चन सिंह, डॉ० अम्बा प्रसाद

सुमन और डॉ० महेन्द्र कुमार। इसकी पृष्ठ संख्या ५७३ है और इसका प्रकाशन संवत् २०१५ में हुआ। यह ग्रंथ चार खंडों में विभक्त है। प्रथम खंड में तीन अध्याय हैं—१. परिस्थितियाँ, २. रीतिकाव्य का शास्त्रीय पृष्ठाधार, ३. रीतिकाव्य का साहित्यिक आधार। द्वितीय खंड में छः अध्याय हैं—१. सामान्य विवेचन, २. सीमा-निर्धारण, ३. उपलब्ध सामग्री के मूल स्रोत, ४. रीति की व्याख्या, ५. रीतिकालीन कवियों की सामान्य विशेषताएँ, ६. रीतिबद्ध कवियों का वर्गीकरण। तृतीय खंड में सात अध्याय है—१. लक्षणबद्ध काव्य की सामान्य विशेषताएँ, २. रीतिकालीन रीति-शास्त्र के वर्ग, ३. सर्वांग (विविधांग) निरूपक आचार्य, ४. रस निरूपक आचार्य, ५. अलंकार निरूपक आचार्य, ६. पिंगल निरूपक आचार्य, ७. भारतीय काव्य-शास्त्र के विकास में रीति-आचार्यों का योगदान। अन्तिम खंड में तीन अध्याय हैं—१. रीतिबद्ध काव्य कवियों की विशेषताएँ, २. कवि परिचय और, ३. कवियों का योग-दान।

यह ग्रंथ प्रस्तुत विषय पर समस्त सामग्री का आकलन करता है। ग्रंथ विशेष खोज और अनुशीलन के साथ विविध विद्वानों द्वारा लिखा गया है। निष्कर्ष सुचिन्तित और तथ्यों के आधार पर हैं। कहीं-कहीं विविध विद्वानों के द्वारा लिखे जाने के कारण विचारों और तिथियों में विरोध और असमानता दृष्टिगत होती है। किन्तु रीति-शास्त्र और रीति-काव्य दोनों ही की मीमांसा अभूतपूर्व ढंग से हुई है। निस्सन्देह यह ग्रंथ रीति-शास्त्र और रीतिकालीन हिन्दी कवियों के अध्ययन के लिए प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करता है और ऐसे तथ्यों का उद्घाटन करता है जो इस काल के इतिहास को समझने में सहायक हो सकेंगे।

यह संतोष का विषय है कि देश के विविध विश्वविद्यालयों में हिन्दी साहित्य के विविध रूपों पर डी० लिट्० और पी-एच० डी० अथवा डी० फिल्० उपाधियों के लिए अनेक विद्यार्थी शोध-कार्य कर रहे हैं। अनेक शोध-प्रबन्ध साहित्य की समीक्षा की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। यहाँ रीति सम्बन्धी अथवा कला-काल के प्रमुख कवियों के काव्य से सम्बन्ध रखने वाली-शोध प्रबन्धों की संक्षिप्त सूची प्रस्तुत की जा रही है।[1]

डी० लिट्०

(क) आगरा विश्वविद्यालय

१. रीतिकाल के सन्दर्भ में देव का अध्ययन—डॉ० नगेन्द्र (१९४९)

२. राम-भक्ति में रसिक सम्प्रदाय अथवा हिन्दी रामकाव्य में शृंगारी परम्परा—डॉ भगवती प्रसाद सिंह (१९५८)

---

१. यह सूची भारतीय हिन्दी परिषद, इलाहाबाद की ओर से प्रकाशित हिन्दी अनुशीलन के शोध-विशेषांक के आधार पर है।

(ख) पटना विश्वविद्यालय

१. मध्यकालीन हिन्दी कविता में प्रयुक्त मात्रिक छन्दों का ऐतिहासिक और विश्लेषणात्मक अध्ययन—डॉ० शिवनन्दन प्रसाद (१६५८)

(ग) प्रयाग विश्वविद्यालय

१. हिन्दी काव्य-शास्त्र का विकास—डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' (१६३७)
२. हिन्दी साहित्य और उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि (१७५७-१८५७) डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (१६४६)
३. नायक-नायिका भेद—डॉ० छैल बिहारी 'राकेश' (१६५२)

(घ) लखनऊ विश्वविद्यालय

१. चरनदास, सुन्दरदास और मलूकदास के दार्शनिक विचार—डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित (१६५६)
२. ब्रजभाषा के कृष्ण भक्ति काव्य में अभिव्यंजना शिल्प—डॉ० सावित्री सिन्हा (१६६०)

पी-एच० डी० या डी० फिल्०

(क) अलीगढ़ विश्वविद्यालय

१. कृष्ण काव्य-धारा में मुसलमान कवियों का योगदान (१६००-१८५०) डॉ० हरीसिंह (१६५६)

(ख) आगरा विश्वविद्यालय

१. हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण—डॉ० किरन कुमारी गुप्त (१६४८)
२. हिन्दी साहित्य में अलंकार—डॉ० ओ० पी० कुलश्रेष्ठ (१६५१)
३. हिन्दी कविता में शृंगार रस का अध्ययन—डॉ० पी० एन० शुक्ल (१६५२)
४. कृष्णकाव्य में भ्रमरगीत—डॉ० श्यामसुन्दर दीक्षित (१६५४)
५. हिन्दी काव्य में करुण रस—डॉ० बी० बी० एल० श्रीवास्तव (१६५५)
६. काव्य में रस—डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित (१६५६)
७. मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में समाज चित्रण—डॉ० गनेशदत्त (१६५६)
८. हिन्दी साहित्य में हास्यरस—डॉ० बरसाने लाल चतुर्वेदी (१६५६)
६. मुक्तक काव्य की परम्परा के अन्तर्गत बिहारी का विशेष अध्ययन—डॉ० राम सागर त्रिपाठी (१६५८)
१०. द्विजदेव और उनका काव्य—डॉ० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी (१६५८)
११. रीति कविता का आधुनिक हिन्दी कविता पर प्रभाव—डॉ० रमेश कुमार शर्मा (१६५८)

१२. हिन्दी साहित्य में कृष्ण-परक कविता का विकास—डॉ० बालमुकुन्द गुप्त (१९५८)

१३. कवि पद्माकर तथा उनके रचित ग्रंथों का आलोचनात्मक अध्ययन—डॉ० रेवती सिंह यादव (१९५९)

१४. हिन्दी का प्राचीन और मध्यकालीन गद्य—डॉ० पी० पी० गौतम (१९५९)

१५. हिन्दी कृष्ण भक्ति-काव्य में सखी भाव—डॉ० शरण विहारी गोस्वामी (१९५९)

१६. संत कवि पलटूदास और सन्त सम्प्रदाय—डॉ० प्रयागदत्त तिवारी (१९५९)

१७. अट्ठारहवीं शताब्दी की ब्रजभाषा कविता में प्रेम-भक्ति—डॉ० देवी शंकर अवस्थी (१९६०)

१८. हिन्दी के रीतिकालीन अलंकार ग्रंथों पर संस्कृत प्रभाव—डॉ० कुन्दनलाल जैन (१९६०)

१९. मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में कृष्ण विकास वार्ता—श्रीमती सरोजिनी देवी कुलश्रेष्ठ (१९६०)

२०. रीतिकालीन साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—डॉ० शिवलाल जोशी (१९६०)

२१. हिन्दी साहित्य में भक्ति और रीति की संधिकालीन प्रवृत्तियों का विवेचन डॉ० विष्णु शरण इन्दु (१९६०)

२२. रीति-काव्य पर विद्यापति का प्रभाव—डॉ० वीरेन्द्र कुमार (१९६०)

(ग) आगरा (क० मु० हिन्दी और भाषा विज्ञान विद्यापीठ)

१. कविवर बनारसी दास—जीवनी और कृतित्व—श्री रवीन्द्रकुमार जैन (१९५९)

२. दक्खिनी का रूप-विन्यास—डॉ० श्रीराम वर्मा (१९६०)

(घ) काशी विश्वविद्यालय

१. हिन्दी काव्य रूपों का उद्भव और विकास—श्री शकुंतला दुबे (१९५२)

२. रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना—डॉ० बच्चन सिंह (१९५६)

३. कवि-समय-मीमांसा—डॉ० विष्णु स्वरूप (१९५७)

४. मध्यकालीन हिन्दी अलंकृत कविता और मतिराम—डॉ० त्रिभुवन सिंह (१९५८)

५. लक्षणा का विषय-विस्तार—डॉ० रामभूर्ति त्रिपाठी (१९५९)

६. मध्यकालीन काव्य में लोकतत्व—डॉ० रवीन्द्र भ्रमर (१९५९)

(ङ) गोरखपुर विश्वविद्यालय

१. रामसनेही सम्प्रदाय—डॉ० राधिका प्रसाद त्रिपाठी (१९६१)
२. मध्यकालीन कविता में भारतीय संस्कृति—डॉ० सुरेन्द्र बहादुर त्रिपाठी (१९६१)

(च) दिल्ली विश्वविद्यालय

१. मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ—डॉ० सावित्री सिन्हा (१९५१)
२. हिन्दी में भ्रमर गीत काव्य और उसकी परम्परा—डॉ० स्नेहलता श्रीवास्तव (१९५४)
३. हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य—डॉ० सत्यदेव चौधरी (१९५६)
४. रीतिकालीन काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध—डॉ० उमा मिश्र (१९५८)
५. मतिराम—कवि और आचार्य—डॉ० महेन्द्र कुमार (१९५८)
६. हिन्दी में नीति काव्य का विकास—डॉ० रामरूप शास्त्री (१९५९)
७. हिन्दी में भक्तिकालीन कृष्ण भक्ति साहित्य में रीति-काव्य-परम्परा—डॉ० राजकुमारी मित्तल (१९६०)
८. हिन्दी काव्य-शास्त्र में दोष-निरूपण—डॉ० रणधीर सिंह (१९६०)
९. ब्रजभाषा के कृष्णकाव्य में माधुर्य भक्ति—डॉ० स्वरूपनारायण (१९६०)

(छ) नागपुर विश्वविद्यालय

१. मध्ययुगीन और आधुनिक हिन्दी कविता में पेड़-पौधे और पशु-पक्षी—डॉ० विद्याभूषण गंगल (१९६०)
२. मध्यकालीन हिन्दी और पंजाबी सन्तों की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन—डॉ० सुदर्शन सिंह मजीठिया (१९६०)

(ज) पंजाब विश्वविद्यालय

१. हिन्दी साहित्य को शाह बरकत उल्लाह की देन—डॉ० लक्ष्मीधर (१९४५)
२. आलम का स्याम सनेही—डॉ० सरनदास भनोत (१९६१)
३. रीतिकाव्य के सन्दर्भ में केशवदास का अध्ययन—डॉ० किरणचन्द्र शर्मा (१९५७)
४. हिन्दी काव्य में अन्योक्ति—डॉ० संसारचन्द्र (१९५८)
५. हिन्दी काव्य में शृंगार-परम्परा और बिहारी—डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त (१९५९)

(झ) पटना विश्वविद्यालय

१. बिहार के सन्त कवि दरिया साहब—डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी (१९४४)
२. बिहारी लाल और उनका युग—डॉ० रणधीर प्रसाद सिनहा (१९६३)

३. हिन्दी के मध्यकालीन खण्ड काव्य—डॉ० सियाराम तिवारी (१९६३)

(ञ) प्रयाग विश्वविद्यालय

१. हिन्दी छन्दशास्त्र—डॉ० जानकी नाथ सिंह (१९४२)
२. मनोविज्ञान के प्रकाश में रस-सिद्धान्त का समालोचनात्मक अध्ययन डॉ० छैल बिहारी गुप्त 'राकेश' (१९४३)
३. प्रेमाख्यानक हिन्दी काव्य—डॉ० पृथ्वीनाथ कमल कुलश्रेष्ठ (१९४७)
४. हिन्दी साहित्य के भक्ति एवं रीतिकालों में प्रकृति और काव्य—डॉ० रघुवंश[1] (१९४८)
५. हिन्दी और गुजराती कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन—डॉ० जगदीश गुप्त (१९५३)
६. दक्खिनी के सूफ़ी कवि—डॉ० विमला वाघ्रे (१९५४)
७ हिन्दी नीति-काव्य—डॉ० भोलानाथ तिवारी (१९५६)
८. रीवां दरबार के हिन्दी कवि –डॉ० विमला पाठक (१९५६)
९. मध्यकालीन-काव्य में नारी—डॉ० उषा पाण्डेय (१९५७)
१०. हिन्दी कृष्ण-काव्य पर पुराणों का प्रभाव—डॉ० शशि अग्रवाल (१९५७)
११. सूफ़ी और असूफ़ी कवियों के प्रेमाख्यानकों का तुलनात्मक अध्ययन—डॉ० श्याममनोहर पाण्डेय (१९६०)
१२. हिन्दी कविता में प्रतीकवाद का विकास—डॉ० वीरेन्द्र सिंह (१९६०)
१३. मध्यकालीन हिन्दी साहित्य की साधना-पद्धति—डॉ० केशनी प्रसाद चौरसिया (१९६१)
१४. देव की कृतियों का पाठ और पाठालोचन सम्बन्धी समस्याएँ—डॉ० लक्ष्मीधर मालवीय (१९६१)
१५. हिन्दी कविता में शृंगार रस—डॉ० मिथिलेश कान्ति (१९६१)
१६. मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में कृष्ण-भक्ति धारा और चैतन्य सम्प्रदाय—डॉ० मीरा श्रीवास्तव (१९६१)
१७. मुद्रित सामग्री एवं प्रतियों के आधार पर बिहारी का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन—डॉ० रामकुमारी मिश्र (१९६१)

(ट) राजस्थान विश्वविद्यालय

१. नागरीदास की कविता के विकास से सम्बन्धित प्रभावों और प्रतिक्रियाओं का अध्ययन—डॉ० फैयाज अली खाँ (१९५२)
२. ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त—डॉ० भोलाशंकर व्यास (१९५२)

---

१. डॉ० रघुवंश ने सन् १९६४ में 'भरत का नाट्यशास्त्र' भाग-१ नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें अध्याय १ से ७ तक का मूल, पाठान्तर, अनुवाद एवं व्याख्या है।

३. ब्रजभाषा साहित्य को राजस्थान की देन—डॉ० मोतीलाल मेनारिया (१९५२)

(ठ) लखनऊ विश्वविद्यालय

१. हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास - डॉ० भगीरथ मिश्र (१९४७)
२. सन्त कवि मलूकदास—डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित (१९४८)
३. आचार्य केशवदास—एक अध्ययन—डॉ० हीरा लाल दीक्षित (१९५०)
४. हिन्दी कवियों के प्रेमाख्यानक—डॉ० हरिकान्त श्रीवास्तव (१९५१)
५. अब्दुर्रहीम खानखाना—भारतीय इतिहास के स्रोत के रूप में—डॉ० समर बहादुर सिंह (१९५२)
६. आचार्य भिखारीदास—डॉ० नारायणदास खन्ना (१९५३)
७. शिवनारायणी सम्प्रदाय और उसका साहित्य—डॉ० रामचन्द्र तिवारी (१९५६)
८. अवध के प्रमुख हिंदी कवियों का अध्ययन (सं० १७००-१९००)—डॉ० ब्रजकिशोर मिश्र (१९५७)
९. हिन्दी काव्य में करुण रस—डॉ० तारा कपूर (१९५८)
१०. पद्माकर और उनके समसामयिक कवि—डॉ० ब्रजनारायण सिंह (१९५९)
११. बावरी सम्प्रदाय के हिंदी कवि—डॉ० भगवती प्रसाद शुक्ल (१९६१)
१२. सूदन कृत सुजान चरित और उसकी भाषा—डॉ० त्रिलोकीनाथ सिंह (१९६२)
१३. हिन्दी में सतसई साहित्य—डॉ० कुमारी रमा सिंह (१९६२)

इस भाँति रीति सम्बन्धी अथवा कला-काल सम्बन्धी लगभग सौ शोध प्रबन्ध हिन्दी साहित्य के आलोचना के क्षेत्र में प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त शोध के अनेकानेक विषय विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृत हो चुके हैं जिनपर या तो कार्य समाप्त हो गया है अथवा हो रहा है। इनसे कला-काल के वैभव पर विशेष प्रकाश पड़ने की सम्भावना है।

विश्वविद्यालयों के इस शोध-कार्य में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह हो रही है कि अनेक राज्य पुस्तकालयों, साहित्यिक संस्थानों और धर्म-संस्थानों तथा मठों से अनेकानेक हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त किये जा रहे हैं अथवा उनसे सामग्री संग्रहीत की जा रही है। इसका परिणाम यह हुआ है कि जो साहित्य अभी तक प्रकाश में नहीं आ सका था, उसका निर्देश साहित्य के इतिहासों में होने लगा है। यह कौन कह सकता है कि हिन्दी साहित्य की कौन-सी ग्रन्थराशि कहाँ, किस दशा में सुरक्षित पड़ी हुई है। इसके लिए अखिल भारतीय स्तर पर ग्रन्थ-शोध का कार्य होना

चाहिए । नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज पर कुछ कार्य हुआ था, किन्तु यह कार्य जितने सुचारु रूप से चलना चाहिए था, चल नहीं सका । राजस्थान और मध्यभारत के अनेक राज्य पुस्तकालयों में हस्तलिखित ग्रन्थों का वृहत् भाण्डार है । राज-विलयन के पश्चात् उन समस्त पुस्तकालयों के हस्त-लिखित ग्रन्थ दिल्ली के किसी केन्द्रीय पुस्तकालय में संग्रहीत होने चाहिए । लण्डन की ब्रिटिश म्यूजियम लायब्रेरी में भारत के जितने हस्तलिखित ग्रन्थ, पत्र आदि है, उन्हें अपने देश में वापस लाने का प्रयत्न करना चाहिए । स्वतंत्र होने पर हमें अपनी सांस्कृतिक सम्पत्ति मिलनी चाहिए । हमारे मन्दिरों और मठों में साहित्य की जो सामग्री कभी-कभी भगवान का प्रसाद रखने के काम में आ रही है, अथवा अनेक वर्षों से किसी अँधरी कोठरी में चूहों और दीमकों का भोजन बन रही है, वह राज्य सरकारों को किसी भी मूल्य पर प्राप्त करनी चाहिए । जब हमारे परिवार में कोई राजयक्ष्मा से पीड़ित होकर विस्तर पर लेट जाता है तो हम किसी डॉक्टर, हकीम या वैद्य को बुलाकर उसका इलाज करते हैं और एक व्यक्ति के अस्वस्थ होने पर खाना-पीना तक छोड़ देते हैं । यहाँ हमारी अंधी कोठरियों में हमारे पूर्वज-कवियों की आत्माएँ पृष्ठों की शैया पर क्षत-विक्षत होकर न जाने कितने वर्षों से तड़प रही हैं, कीड़े और मकोड़े, दीमक और चूहे उनके प्राणों को राजयक्ष्मा के कीड़ों की तरह तिल-तिल कर खा रहे हैं और हमारे मुख पर चिन्ता और अवसाद की एक रेखा भी नहीं है । हम उन्हें किसी (साहित्य के) डॉक्टर को दिखलाते भी नहीं । दिनोंदिन एक साथ हज़ारों कवियों की साधनाएँ नष्ट हो रही हैं, हमारी सांस्कृतिक निधि किसी हिम-खण्ड की भाँति क्रमशः घुल रही है, और हम यह भी नहीं जानते कि हम प्रतिक्षण क्या खोते जा रहे हैं ।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से पाण्डुलिपि-संग्रह का कार्य अवश्य चल रहा है । भारतीय शासन की सहायता से लगभग चार हज़ार पाण्डुलिपियों का विव-रण लिखा जा रहा है । किन्तु यह कार्य देश की अन्य संस्थाओं की ओर से अधिक मनोयोगपूर्वक होना चाहिए ।

हस्तलिखित साहित्य को प्राप्त करना आज साहित्यिक संस्थाओं, साहित्य-मनीषियों, विद्यार्थियों और राज्य-सरकारों का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है ।

द्वितीय प्रकरण

रीति-साहित्य का विस्तार

रीति-साहित्य कला-काल का एक महत्त्वपूर्ण अंग कहा जा सकता है। उसका प्रारम्भिक इतिहास राजशेखर की 'काव्य मीमांसा' में 'काव्यपुरुष'[1] के रूप में कल्पित किया गया है। सरस्वती से उत्पन्न काव्य-पुरुष ने इस शास्त्र को सत्नह भागों में विभाजित कर सत्नह ऋषियों को उपदेश किया। ऋषि और उनके विषय निम्न-लिखित हैं :—

सहस्राक्ष	कवि रहस्य
मुक्ति गर्भ	उक्ति
सुवर्ण नाम	रीति निर्णय
प्रचेतायन	अनुप्रास
चित्रांगद	यमक, चित्र
शेष	शब्द-श्लेष
पुलस्त्य	वास्तव
उमौपकायन	उपमा
पाराशर	अतिशयोक्ति
अतथ्य	अर्थश्लेष
कुबेर	उभयालंकार
कामदेव	विनोद
भरत	रूपक
नन्दिकेश्वर	रस
विषण	दोष
उपमन्यु	गुण
कुचुमार	उपनिषद्

इस नाम और विषय के उल्लेख से काव्य के अंगों का निर्देश अवश्य मिलता है किन्तु सभी विषयों के निरूपक ग्रन्थ आज हमें उपलब्ध नहीं हैं।

यह अवश्य कहा जा सकता है कि काव्य-शास्त्र का आरम्भ दर्शन और व्याक-रण के बाद ही हुआ होगा। आचार्य भरत का नाट्य-शास्त्र ईसवी शताब्दी प्रथम

---

१. डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने इसी विचार को लेकर 'काव्य पुरुष' नामक एक महाकाव्य की रचना की है।

की रचना है। आचार्य भरत ने जो नाट्य-शास्त्र की रचना की है वह इस तथ्य का प्रमाण है कि उनके पूर्व भी नाट्य-रचना के प्रयोग होने लगे थे। उन प्रयोगों को परिष्कृत कर स्थिरता प्रदान करने की दृष्टि से ही आचार्य भरत को 'नाट्य-शास्त्र' की रचना करनी पड़ी होगी। आचार्य भरत ने कृशाश्व और शिलालिन् के नामों का उल्लेख भी किया है। अतः इतना तो कम से कम निर्विवाद कहा जा सकता है कि कृशाश्व और शिलालिन् भरत के कुछ पहले अर्थात् ईसवी शताब्दी प्रथम के पूर्व ही रहे होंगे। उस समय भी किसी न किसी 'नाट्य-शास्त्र' की मान्यता होगी जिसे लेकर कृशाश्व और शिलालिन् की रचनाएँ लिखी गयी होंगी। अतः रीति-शास्त्र का प्रारम्भ कम से कम ईसा की एक शताब्दी पूर्व ही मानना चाहिए।

कृशाश्व और शिलालिन् की कोई रचना हमें प्राप्त नहीं है किंतु आचार्य भरत का 'नाट्य-शास्त्र' हमें किसी प्रकार प्राप्त है और यह स्पष्ट ही है कि भरत का नाट्य-शास्त्र रीति-साहित्य का आदि ग्रन्थ है।

संस्कृत साहित्य में रस-रीति का विस्तार उसी अनुभूति, चिन्तन और तर्क से हुआ जिससे हमारे दर्शन-शास्त्र की विस्तृत मीमांसा हुई। भारतीय दृष्टि प्रत्येक क्षेत्र मे मूल तत्व तक पहुँचने में सचेष्ट रही है। दृश्यमान् जगत् का मूल क्या है मन और बुद्धि का प्रेरणा स्रोत कहाँ है, ब्रह्म और जीव क्या है, इसकी विस्तृत व्याख्या जिस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में हुई उसी प्रकार काव्य की मूल प्रेरणा कहाँ से हुई और उसके विकास में किन उपकरणों का योग रहा आदि जिज्ञासाओं से ही 'काव्य-शास्त्र' का आरम्भ हुआ। काव्य का लक्ष्य आनन्द था, दर्शन का लक्ष्य भी सत्, चित् और आनन्द था—दोनों के लक्ष्य में जो आनन्द है, वह परिस्थिति भेद से भिन्न तो नहीं है ? सम्भवतः भिन्न नहीं है क्योंकि कालान्तर में काव्य के आनन्द को 'ब्रह्म-सहोदर' कहा गया। आनन्द का मूल रस में है अथवा रस के मूल में आनन्द है, वैसा ही कथन है जिस भाँति ब्रह्म रसमय है और रस ब्रह्ममय है। रसो वै सः। अतः इस रस की व्याख्या में एक ओर काव्य है तो दूसरी ओर दर्शन, दर्शन के क्षेत्र में न्याय, सांख्य और मीमांसा का नियोजन है और काव्य के क्षेत्र में निष्पत्ति और अनुमिति है। दोनों ही का आधार अनुभूति और चिन्तन है। इस भाँति जैसे दर्शन में आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धों की मूल व्याख्या मिलती है उसी प्रकार काव्य-शास्त्र में कविता की आत्मा और उसके सौन्दर्य की खोज की गई है। काव्य-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र एक ही चिन्तन के दो पक्ष हैं।

संस्कृत में काव्य-शास्त्र के अनेक आचार्य हुए हैं जिन्होंने काव्य की मूल प्रेरणा और उसकी मौलिक स्थिति की खोज की है। मानव-ज्ञान के अन्य अंगों और उपांगों की भाँति काव्य सम्बन्धी जिज्ञासा ईसा की अनेक शताब्दियों पूर्व प्रारम्भ हो गई होगी। आचार्य भरत तो पूर्ववर्ती आचार्यों में से वे आचार्य हैं जो किसी संयोग की तरंग से इतिहास-तट पर मुक्ता-मणि की भाँति डाल दिए गए।

उनकी एक मात्र कृति 'नाट्य-शास्त्र' से हम रीति-साहित्य के विस्मृत वैभव की कल्पना कर सकते हैं।

वेदों में नृत्य-गीत और छन्दों के पर्याप्त संकेत हमें मिलते हैं। अष्टाध्यायी में पाणिनि ने उपमित, उपमान आदि शब्दों का विशिष्ट प्रयोग किया है। दर्शन में भी शब्द-शक्तियों का विवेचन न्याय मीमांसा में प्राप्त होता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार वेद की ऋचाओं ने किसी नाट्य-वेद की सृष्टि की, जिसका शास्त्रीय निरूपण हमें नाट्य-शास्त्र में प्राप्त हुआ, उसी प्रकार साम की ऋचाओं की प्रेरणा ने किसी काव्य-शास्त्र को अवश्य ही एक विशिष्ट शैली दी होगी। यह भी सम्भव है कि यह उसी अज्ञात काव्य-शास्त्र की प्रेरणा होगी जिसने आचार्य भरत के नाट्य-शास्त्र में 'रस-तत्त्व' का समावेश करा दिया हो। आचार्य भरत ने तो नाट्य-शास्त्र की रचना प्रयोग-सापेक्ष्य 'नाट्य' को व्यवस्थित रूप देने के लिए की और नाट्य की प्रभावान्विति को ध्यान में रखते हुए 'रस' की स्थापना की, किन्तु आगे चलकर उनके इस 'रस-सिद्धान्त' से काव्य-शास्त्र की उस प्रच्छन्न धारा को प्रकट होने का अवसर मिल गया जो अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग खोज रही थी। इस भाँति भरत के नाट्य-शास्त्र से संस्कृत साहित्य में 'रस' को लेकर काव्य-शास्त्र की परम्परा आरम्भ हो गई। आचार्य भरत का रस-सिद्धान्त रीति-शास्त्र के मूल में है। इसी रस-सिद्धान्त को आदि मान कर विविध आचार्यों ने इसके परिवर्द्धन, परिष्करण और संशोधन के फलस्वरूप अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों का निरूपण किया। यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि रीति-शास्त्र में प्रारम्भ से अन्त तक रस-सिद्धान्त ही सुषुम्णा नाड़ी की भाँति सभी सिद्धान्तों में अन्तर्भूत है। यह बात दूसरी है कि काव्य-शास्त्र के चिन्तकों ने अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति को विविध दृष्टिकोणों से प्रमुखता प्रदान कर रस की महत्ता को गौण स्थापित किया। बात तो इस सीमा तक पहुँची कि मम्मट, विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ ने रस को मान्यता देते हुए भी उसे ध्वनि के एक अंग के रूप में निरूपित किया। किन्तु किसी भी आचार्य का यह साहस नहीं हुआ कि वह रस-सिद्धान्त को अमान्य ठहरा कर उसकी समाधि पर अपनी प्रतिभा का प्रासाद खड़ा कर सकता।

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी सृष्टि के इन पाँच तत्त्वों की भाँति ही काव्य-सृष्टि में भी रस, अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति ये पाँच सिद्धान्त निरूपित हुए। जिस भाँति सृष्टि के तत्त्व एक दूसरे के पूरक हैं, उसी भाँति काव्य-सृष्टि के सिद्धान्त भी एक दूसरे के विरोधी न होकर काव्य के विविध पार्श्वों पर प्रकाश डालने में समर्थ हुए हैं। खंडन और मंडन की सिद्धान्त-परम्परा में काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में अनेक आचार्यों ने तर्क और चिन्तन के आधार पर काव्य के रहस्यों का उद्घाटन किया। काव्य किस भाँति उत्कृष्ट है अथवा काव्य का

मर्म क्या है, काव्य का जीवन क्या है, इस सम्बन्ध में भारतीय मस्तिष्क ने जितना सूक्ष्म और तर्क-सम्मत विचार किया है, वह अद्वितीय है।

रस

नाटक के अनिवार्य तत्त्व के रूप में आचार्य भरत ने रस की स्थापना की है। अभिनय के द्वारा नाना प्रकार के विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव अपने संयोग से जिस आस्वाद की सृष्टि करते हैं, उसका नाम 'रस' है। उन्होंने अपने नाट्य-शास्त्र के छठे अध्याय में कहा :—

विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

अतः नाटक का वास्तविक उद्देश्य तभी पूर्ण माना जाएगा जब उसके द्वारा 'रस' की अनुभूति कराई जा सके। रस विविध भावों के संयोग से ही निष्पन्न होता है। जिस प्रकार अनेक प्रकार के व्यंजनोपकरणों के मिश्रित होने पर व्यञ्जन का स्वाद उन व्यंजनोपकरणों के अलग-अलग स्वादों से परे उठ कर समष्टि के एक नवीन स्तर पर पहुँच कर एक विचित्र स्वाद और सुख की सृष्टि करता है, उसी भाँति विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव अपने-अपने क्षेत्र में सीमित होते हुए जब परस्पर संयुक्त होते हैं तो वे जिस नवीन आस्वाद की अनुभूति कराते हैं, उसका नाम 'रस' है।

इन रसों की संख्या नाटकीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए आचार्य भरत ने केवल चार मानी है। वे रस है—श्रृंगार, वीर, रौद्र और वीभत्स। ये चार रस अपने विस्तार में अन्य चार रसों को उत्पन्न कर सकते है। भावना-सृष्टि की प्रगति में श्रृंगार से हास्य, वीर से अद्भुत, रौद्र से करुण और वीभत्स से भयानक रस सहज ही प्रकट हो जाते है। इस भाँति भरत के नाट्य-शास्त्र में केवल आठ रसों की ही मान्यता है। इन रसों में श्रृंगार रस सब से प्रमुख रस है। इस रस के दो भेद है, संयोग और विप्रलंभ। हास्य के छः भेद हैं—स्मित, हसित, अवहसित, अपहसित, उपहसित, और अट्टहास। वीर के तीन भेद हैं—दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर।

नायिका-भेद

नायिका-भेद के दृष्टिकोण से आचार्य भरत ने किसी परम्परागत आग्रह को स्वीकार न करते हुए सामान्य जीवन में जो स्त्रियों के रूप प्रायः दृष्टिगत होते हैं, उन्हें ही अपने नाट्यशास्त्र में स्वीकार किया। नाट्य-रचना लोक-जीवन से ही तथ्य ग्रहण करती है, वह इस रूप में एक सामाजिक संस्था है। अतः जन-जीवन के आहार और व्यवहार के अध्ययन के फलस्वरूप यदि आचार्य भरत ने अपनी नायिकाओं के रूप जनता के सामान्य जीवन से ग्रहण किए तो यह उनके निरीक्षण और संग्राहक शक्ति का ही प्रमाण है। रस के क्षेत्र को अधिक अनुभवगम्य और स्वाभाविक बनाने की दृष्टि से उन्होंने 'कामतंत्र' की समीक्षा भी आवश्यक समझी।

नाट्य-शास्त्र की व्याख्या

आचार्य भरत के नाट्य-शास्त्र की व्याख्या सर्वप्रथम भट्ट लोल्लट ने की। भट्ट लोल्लट ने रस के रूप को अधिक स्पष्ट किया। उन्होंने भावों के अन्तर्गत स्थायी भाव को महत्व देते हुए उसे तब तक 'अनुपचित' (अपरिपक्व) माना जब तक विभाव, अनुभाव और संचारी भाव उससे संयुक्त होकर उसे 'उपचित' नहीं बनाते। स्थायी भाव की 'उपचित' अवस्था का नाम ही 'रस' है। भट्ट लोल्लट ने 'रस' की स्थिति अभिनय-कर्त्ता में भी मानी क्योंकि अभिनय-कर्त्ता जब तक अवस्था अथवा व्यक्ति का अनुसन्धान-बल से अनुभव नहीं करेगा तब तक वह सफल अभिनय कर ही नहीं सकता और यदि अभिनय करने में उसे सफलता मिली तो उसमें रस की स्थिति मानना किसी प्रकार भी असिद्ध नहीं है। अतः नट पर मूल पात्र के आरोप होने पर ही रसानुकूल परिस्थिति आती है।

भट्ट लोल्लट के 'उपचित' और 'रसानुभूति' को लेकर शंकुक ने आपत्ति उठाई। उनका कथन है कि 'उपचित' होना तो परिपक्वता की अंतिम सीमा है किन्तु वियोग श्रृंगार के अन्तर्गत एकादश दशाओं में तो स्थायी भाव क्रमशः अग्रसर होकर ही 'उपचितावस्था' तक पहुँचता है। ऐसी दशा में वियोग की एकादश दशाएँ—अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, जड़ता, व्याधि, मूर्छा और मरण क्या अपनी पूर्ववर्ती दस दशाओं में रस की अधिकारिणी नहीं हैं? अतः जब तक 'उपचितावस्था' की क्रमशः सीमाएँ निर्धारित न की जायँ तब तक स्थायी भाव रसोद्रेक करने में किस प्रकार सफल हो सकता है?

रसानुभूति की दृष्टि से अभिनय-कर्त्ता किस प्रकार रस का अधिकारी होगा जब वह मूल पात्र या परिस्थिति के लिए न तो अंतर्यामी है और न योगी? ऐसी स्थिति में भट्ट लोल्लट ने जो मूल नायक, वस्तु या परिस्थिति का नट या नटी पर 'आरोप' किया है, वह ठीक नहीं है। दर्शक या सामाजिक तो मूल पात्र का 'अनुमान' ही नट पर कर सकता है। इस भाँति रसोद्रेक में 'अनुमिति' ही सहायक होती है।

शंकुक के उपरान्त भट्टनायक ने रस की मीमांसा अधिक मनोवैज्ञानिक रूप से की। उन्होंने रसानुभूति में एक नवीन भाव 'साधारणीकरण' जोड़ कर उसे अधिक स्वाभाविक और ग्राह्य बना दिया। भट्ट लोल्लट ने जिस 'आरोपवाद' की कल्पना की और शंकुक ने जिस 'अनुमितिवाद' द्वारा उसका संशोधन किया उसे भट्टनायक ने 'साधारणीकरण' द्वारा अधिक जीवंत और विश्वसनीय बना दिया। उन्होंने काव्य की क्रियाशीलता को तीन भागों में विभाजित कर दिया। पहला भाग है अभिधा, दूसरा भावकत्व और तीसरा भोजकत्व।

काव्य का पहला कार्य होता है कि वह अर्थ का बोध जिस रूप में अभीष्ट है, वह वाच्य या लक्ष्य द्वारा श्रोता के हृदय में करा दे। बोध होने पर जो स्थायी

भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव किसी पात्र या वस्तु-विशेष के होते हैं, वे अपनी सीमित परिधि से उठ कर सर्व-साधारण के स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव हो जाते हैं। व्यष्टि से उनकी परिणति समष्टि में हो जाती है। हनुमान और राम का सेवक-सेव्य भाव सामान्य जन-मानस में उतर कर उनकी परिस्थिति के अनुसार सेवक-सेव्य भाव के अनुकूल हो जाता है। यही 'साधारणीकरण' है इस साधारणीकरण के होते ही उसके हृदय में जिस सत्व गुण का उदय होता है उससे अन्य समस्त प्रकार की चित्त-वृत्तियाँ तिरोहित हो जाती हैं और हृदय एक मात्र तन्मयता की तरंगों में आन्दोलित होकर रसानुभूति के उपयुक्त बन जाता है। यही रसानुभूति काव्य की अन्तिम क्रियाशीलता है जिसे भट्ट नायक ने 'भोजकत्व' नाम दिया है। अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व मानसिक प्रक्रिया में अविलम्ब प्रकट हो जाता है और रस-निष्पत्ति स्वाभाविक और तत्क्षण पूर्ण हो जाती है। भट्ट नायक ने साधारणीकरण-तत्व के नव प्रयोग से काव्य-संसार में एक क्रान्ति का ही सूत्रपात किया और इससे रस लोक-परक न रह कर लोकोत्तर होगया। भट्ट नायक का यह सिद्धान्त काव्य-शास्त्र में 'भुक्तिवाद' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भट्ट नायक के अनन्तर अभिनवगुप्त ने रस की मीमांसा में 'भुक्तिवाद' के स्थान पर 'अभिव्यक्ति वाद' की स्थापना की। उन्होंने भट्ट नायक की अभिधा को केवल वाचक अथवा स्थूल मान कर उसके द्वारा भावकत्व की उत्पत्ति में संशय माना है। भावकत्व तो एक मनोवैज्ञानिक प्रगति है। अतः इस मनोवैज्ञानिक प्रगति के लिए वाच्य की अपेक्षा ध्वनि की आवश्यकता है। इस भाँति ध्वनि ही साधारणीकरण में सहायक होती है। अर्थात् ध्वनि और भावकत्व का सम्बन्ध ही साधारणीकरण में नित्य और स्वाभाविक है। इस साधारणीकरण तत्व से अभिनवगुप्त एक बात और कहते हैं। वह यह कि रस के अनुरूप हमारे हृदय में जो भावनाएँ और वासनाएँ उत्पन्न होती हैं, वे हमारे संस्कारों में ही प्रसुप्त हैं। अवसर पाकर वे ही जागृत होती हैं और उनके जागने पर हम रस की 'निष्पत्ति' मानते हैं। ऐसी स्थिति में रस का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। रस तो हमारे हृदय में ही प्रसुप्त है। ध्वनि के संयोग से जब साधारणीकरण की स्थिति आती है तो रस की अभिव्यक्ति स्वयं हो जाती है। इस भाँति विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से 'ध्वनित' होकर साधारणीकरण में ही रस की निष्पत्ति होती है। इस भाँति आचार्य भरत के नाट्य-शास्त्र ने अनेक आचार्यों को जीवन और मनोविज्ञान की ओर प्रेरित कर काव्य के अन्तर्गत रस को प्रतिष्ठित करने का गौरव प्रदान किया। भरत के 'आस्वाद वाद', भट्ट लोल्लट के 'आरोप वाद', शंकुक के 'अनुमिति वाद', भट्ट नायक के 'भुक्ति वाद' और अभिनवगुप्त के 'अभिव्यक्ति वाद' से संस्कृत काव्य में रस की मीमांसा हुई है। पंचमुख महादेव के पाँच मुखों की भाँति उपर्युक्त पाँचों वादों ने रस-सिद्धान्त को संस्कृत काव्य में शिवत्व प्रदान किया है। आगे चल

कर भानुदत्त, विश्वनाथ, मम्मट और पंडितराज जगन्नाथ ने भी रस-मीमांसा में अपने-अपने दृष्टिकोण से योग-दान दिया।

अलंकार

आचार्य भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र में अलंकारों का निरूपण अवश्य किया है किन्तु उन्होंने केवल चार अलंकारों का निर्देश किया है। वे अलंकार हैं—उपमा, दीपक, रूपक और यमक। ये रस-निष्पत्ति में सहायक समझे गए हैं। यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि आचार्य भरत ने अलंकारों को कोई विशेष प्रतिष्ठा नहीं दी। फलत: लगभग छ: सौ वर्षो तक रस-सम्प्रदाय की परम्परा अक्षुण्ण चलती रही। धीरे-धीरे कुछ आचार्यों द्वारा यह अनुभव किया जाने लगा कि आचार्य भरत ने जिस रस-सम्प्रदाय का विवेचन किया है, वह तो मूलत: नाट्य (दृश्य काव्य) के लिए है। सामान्य काव्य के लिए सौन्दर्य की अनुभूति का कोई साधन अवश्य होना चाहिए। इस सौन्दर्य की प्रतिष्ठा के लिए ही आचार्य भामह ने अलंकार सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन किया। भामह के उपरान्त आचार्य दंडी और उद्भट का नाम अलंकार-शास्त्र के निरूपण में सम्मान के साथ लिया जाता है। भामह और दंडी ने रस-सिद्धान्त को तो स्वीकार किया (सम्भवतः इसलिए कि वे पिछले छ: सौ वर्षों की मान्य परम्परा की अवहेलना नहीं कर सकते थे) किन्तु उन्होंने रस को अलंकार के अन्तर्गत ही स्वीकार किया और रस तथा भाव को 'रसवत्' आदि अलंकारों की संज्ञा प्रदान की। इस भाँति अलंकार ही काव्य का सर्वस्व माना गया। आगे चलकर ध्वनि सम्प्रदाय का निरूपण करने वाले आनन्द वर्द्धनाचार्य ने इसे निम्न प्रकार का काव्य-गुण माना है,—

काव्य का सौन्दर्य शब्द और अर्थ की युति में है। भामह ने काव्य का परिचय देते हुए कहा :—

शब्दार्थौ सहितौ वक्र कवि व्यापार शालिनिबन्धव्यवस्थितौ काव्यम्—अर्थात् शब्द और अर्थ को एक विशिष्ट समन्वयात्मक शैली में प्रयुक्त करने का नाम ही 'काव्य' है। शब्द और अर्थ की इस युति में ही अलंकार की सृष्टि होती है क्योंकि इसी सौन्दर्य में काव्य-शास्त्र की प्रतिष्ठा है।

भामह ने अलंकारों का महत्त्व प्रतिपादन करते हुए कहा:—

न कांतमपि निर्भूषं विभाति वनिता मुखम्।

जिस भाँति बनिता-मुख सहज सुन्दर होते हुए भी बिना भूषणों के शोभित नहीं होता उसी प्रकार बिना अलंकारों के काव्य शोभा नहीं पाता।

आचार्य भामह के इसी कथन को दृष्टि में रख कर आचार्य केशवदास ने लिखा—

भूषण बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त।

आचार्य दंडी ने अलंकार का धर्म भी यही माना है :—

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ।

भामह और दण्डी के सिद्धान्तों की समीचीन व्याख्या में आचार्य उद्भट का बहुत बड़ा हाथ है । उनका 'अलंकार सार संग्रह' वास्तव में अलंकार विषय का मान्य ग्रन्थ है । आगे चलकर यह शोभा का सर्जक अलंकार 'अलंकार शास्त्र' में परिणत हो गया । इस अलंकार शास्त्र में अलंकारों की परिभाषा और संख्या का निरूपण मात्र रह गया । उसमें कथन की वक्रता का आदि गुण गौण बन कर ही रहा । संभवतः यही कारण है कि आगे चलकर आचार्य कुन्तक को वक्रोक्ति सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा फिर से करनी पड़ी जिससे वचन-वैदग्ध्य की योजना काव्य में सौन्दर्य की स्थापना कर सके ।

अलंकार जब शास्त्र का रूप ग्रहण करने लगा तो उसमें परिभाषा और संख्या का आग्रह होने लगा । यह संख्या समय-समय पर घट्ती-बढ़ती रही । कुछ आचार्यों ने पूर्ववर्ती अलंकार-संख्या को अभीष्ट-साम्य के कारण कम कर अलंकार घटा दिए और कुछ ने कहीं कम करते हुए कहीं बढ़ा दिए । आचार्य भरत से पंडित राज जगन्नाथ तक अलंकारों का विकास-क्रम पृष्ठ ६६ पर देखा जा सकता है ।

भामह के अलंकार विषयक सिद्धान्त ने रस को अपने में समाहित कर अलंकार को ही काव्य की आत्मा समझा । यह अलंकार वक्र शैली (विशिष्ट भंगिमा-संपन्न आख्यान) को ही काव्य में सौन्दर्य का विधायक मान कर चला और अत्यन्त व्यापक संदर्भ में प्रयुक्त हुआ । सौन्दर्य का दूसरा नाम ही अलंकार है और इस दृष्टि से काव्य के समस्त अंग—गुण, वृत्ति, रीति और यहाँ तक कि रस भी जो काव्य में सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं—अलंकार के अन्तर्गत आ जाते हैं ।

रस-सिद्धान्त के समर्थक इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं है । वे रस की प्रधानता मानते हुए अलंकार को उसकी चारुता बढ़ाने वाला समझते हैं । इस भाँति रस अलंकार्य है और उपमा आदि अलंकार हैं । कहीं अलंकार्य भी अलंकार हो सकता है ? जिसका श्रृंगार किया जाना है, वह स्वयं श्रृंगार कैसे हो सकता है ? कोई व्यक्ति स्वयं अपने कंधे पर कैसे चढ़ सकता है ? इस भाँति समय-क्रम से अलंकार्य और अलंकार में भेद बढ़ता ही गया ।

कुछ आचार्यों ने अलंकारों के वर्गीकरण का प्रश्न भी उठाया । ऐसे आचार्यों में भामह, रुद्रट, रुय्यक, विद्याधर, मल्लिनाथ और विद्यानाथ हैं । सर्वप्रथम भामह ने ही वाक् को दो भागों मे विभाजित किया, वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति । वक्रोक्ति ही सबसे अधिक सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करती है । स्वभावोक्ति तो वाणी के स्वाभाविक कथन को ही सम्यक् रूप से प्रस्तुत करती है । किन्तु आचार्य दंडी ने स्वभावोक्ति को ही सर्वोत्तम महत्त्व दिया । अलंकारों के वर्गीकरण का प्रयत्न उद्भट ने भी किया, किन्तु उनसे अधिक युक्तिसंगत निरूपण रुद्रट ने किया । रुद्रट के अनन्तर रुय्यक और विद्याधर ने भी अधिकांश में रुद्रट का ही अनुकरण किया ।

मल्लिनाथ ने रुय्यक और विद्याधर के द्वारा किए गए ४२ अलंकारों के वर्गीकरण को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है :—
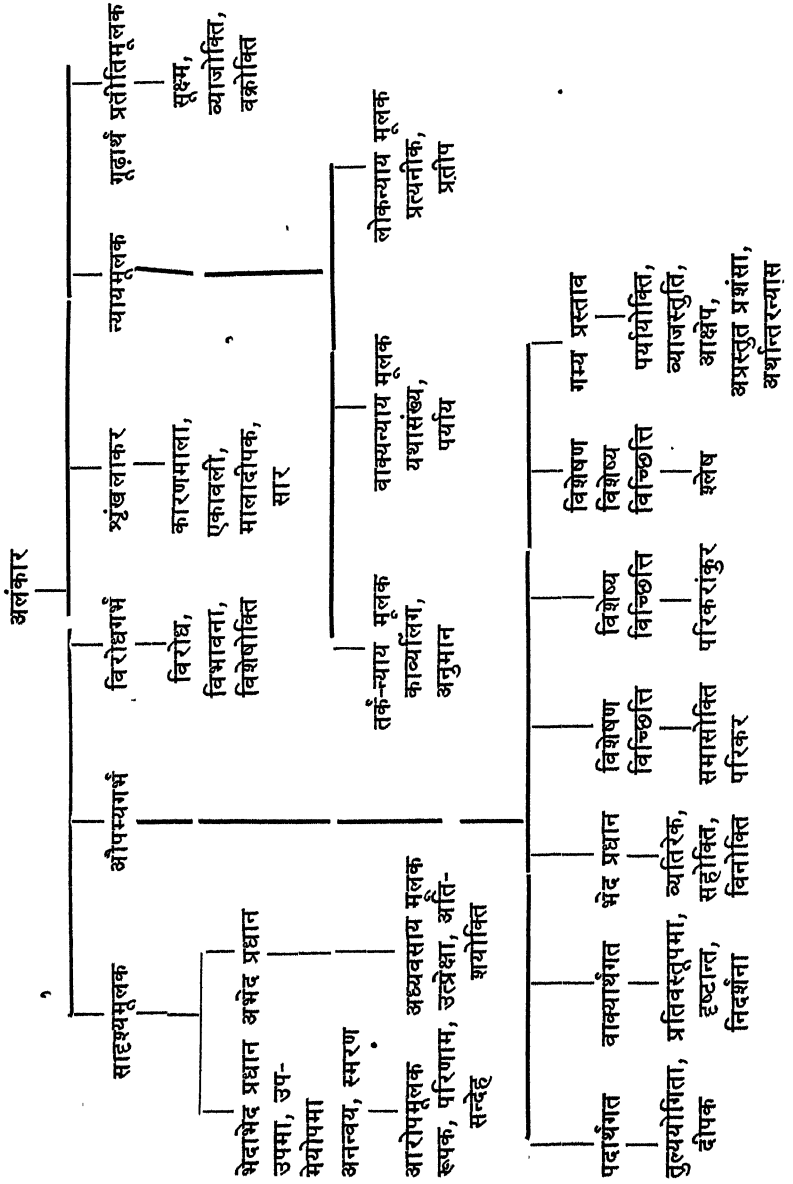
भामह ने रस को अपने अलंकार-सम्प्रदाय का अंग मान कर श्रव्य काव्य में

अलंकार की सर्वोपरि प्रतिष्ठा की थी। उनके इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तन में दंडी और उद्‌भट ने बड़ा योग दिया था। किन्तु कालान्तर में जब अलंकार काव्यशास्त्र में बद्ध हो गया तो उसकी प्रतिष्ठा धीरे-धीरे कम होने लगी। आनन्दवर्द्धन और कुंतक ने तो अनेक अलंकारों को अमान्य भी घोषित किया। आनन्दवर्द्धन ने तो अनुप्रास को रस-निष्पत्ति में बाधक मान कर उसके प्रयोग में सावधानी बरतने की बात कही है। कुन्तक ने यमक को सौन्दर्यहीन अलंकार कहा है। इस भाँति काव्य में अलंकार की मान्यता गौण होती गई। यदि मम्मट ने अलंकारों को पुनः मान्यता न दी होती तो हिन्दी में अलंकारों का प्रवर्त्तन किस प्रकार होता, यह कहा नहीं जा सकता।

रीति

'विशिष्टा पद-रचना रीतिः' कहकर आचार्य वामन ने अभिव्यक्तीकरण की शैली को ही काव्य की प्रमुख विशेषता निर्धारित की। यहाँ तक कि रीति को काव्य की आत्मा निर्धारित किया गया। **'रीतिरात्मा काव्यस्य**।' इस रीति ने काव्य में अनेक गुणों की स्थापना की—वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली। इनमें से प्रत्येक के विविध रूप भी निर्धारित हुए। काव्य की आत्मा रीति में है, उसकी शोभा गुणों में है और उसका विस्तार अलंकारों में है।

रीति पर विचार करने वालों में भामह और दण्डी भी हैं जिन्होंने अलंकार-सिद्धान्त को पुष्ट किया है। भामह ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में काव्य के दो रूप माने हैं :—वैदर्भ और गौड़। ये नाम स्थान-विशेष के आधार पर ही हैं। उनके मतानुसार वैदर्भ-काव्य गौड़-काव्य से श्रेष्ठतर है। दण्डी ने काव्य शैली को 'मार्ग' का नाम दिया है। उन्होंने भी वैदर्भ-शैली को गौड़-शैली से अधिक काव्यमय माना है।

वामन ने रीति की स्थापना कर एक क्रान्ति करनी चाही। उन्होंने विशिष्ट पद-रचना की कल्पना में रस और अलंकार को भी रीति में अन्तर्भूत करने की चेष्टा की। पद-रचना में उन्होंने गुण की प्रतिष्ठा की। गुण को उन्होंने **'काव्य शोभायाः कर्तारः'** कहा। इससे काव्य-शोभा का सर्जक गुण ही रस और अलंकार को गौण बना कर सर्वोत्तम स्थान ग्रहण करना चाहता था किन्तु गुण स्थूल होने के कारण रस और ध्वनि (जो सूक्ष्म हैं) उनकी समानता नहीं कर सका और अन्त में रीति-सिद्धान्त काव्य में केवल शैली की विशेषता ही लेकर रह गया।

वामन के उपरान्त अनेक आचार्यों ने इस 'रीति' पर विचार किया। 'ध्वनि' सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आनन्दवर्द्धनाचार्य ने रीति को 'संघटना' मान कर उसे रस-निष्पत्ति का साधन मात्र माना। राजशेखर ने उसे केवल 'वचन-विन्यासक्रम' का पर्याय समझा। कुंतक ने उसे 'मार्ग' मान कर केवल रसाभिव्यक्ति का उपकरण सिद्ध किया। आचार्य मम्मट ने इस रीति को उपनागरिका, परुषा और कोमल वृत्ति के रूप में

ही ग्रहण किया। इस भाँति रीति का अभिप्राय केवल काव्य के बाह्य रूप तक ही सीमित रह गया। काव्य की आत्मा की अभिव्यक्ति रस के द्वारा ही मानी गई। वामन ने जिस विशिष्ट पद-रचना में काव्यात्मा की कल्पना की थी, परवर्ती आचार्यों द्वारा वह केवल शब्द और अर्थ की उपयुक्त अभिव्यक्ति मात्र बन कर रह गई। वह रस की अभिव्यक्ति के लिए उचित साधन मात्र ही समझी गई। अर्थात् रस के धर्म ही को रीति कहा गया है। यह धर्म माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण के रूप में ही काव्य के अन्तर्गत समाहृत हुआ। वामन ने अलंकार को हीन मान कर केवल गुण को ही काव्य में शोभाकारक निर्धारित करने का प्रयत्न किया था और परवर्ती आचार्यों ने वामन के इस शोभाकारक तत्त्व को शब्द और अर्थ में सीमित काव्य के ऊपरी परिधान का ही स्थान दे दिया। रीति में केवल शब्दों का क्रम और तज्जनित अर्थ की संगति का ही प्रयोजन मान्य हुआ। इस भाँति रीति अधिकतर वस्तु-परक ही बन कर रह गई। आत्म-परक रस और ध्वनि की प्रतिद्वंद्विता में वह मीलों पीछे छूट गई। आचार्य वामन के बाद रीति-सिद्धान्त अपने महत्त्वपूर्ण सेव्य के सिंहासन से गिर कर सेवक के निम्न पद पर आकर खड़ा हो गया।

ध्वनि

शब्द-शक्तियों पर आधारित यह सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन है। इसे व्यवस्थित रूप देने का श्रेय आचार्य आनन्दवर्द्धन को है। अपने 'ध्वन्यालोक' के द्वारा उन्होंने ध्वनि को काव्य का सर्वोपरि तत्त्व सिद्ध करने का प्रयास किया। जैसे वर्णों के क्रमिक स्फोट से एक विशिष्ट अर्थ की उपलब्धि होती है और यह अर्थ ध्वनि का अनुसरण करते हुए विशिष्ट अनुभूति उत्पन्न करता है, उसी भाँति सामान्य वाच्यार्थ के अनन्तर-अथवा लक्ष्यार्थ के उपरान्त जो नवीन अर्थ की गूँज व्यंग्य के द्वारा उत्पन्न होती है वही 'ध्वनि' है। अभिनवगुप्त अपने 'ध्वन्यालोक लोचन' में ध्वनि को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—

'एवं घंटानादः स्थानीयः अनुकरणनात्मोपलक्षितः व्यंग्योप्यर्थः ध्वनिरिति व्यवहृतः'।

जिस भाँति घंटानाद के अनन्तर क्रमशः एक मधुर झंकार गूँजती रहती है, उसी भाँति किसी कथन के उपरान्त एक मधुर अर्थ हृदय में गुंजन करता है, वही 'ध्वनि' है। यह अर्थ की सूक्ष्म अनुभूति है। इसी स्थिति में काव्य हृदय के कोने-कोने में प्रसरित होता है और किसी सहृदय को आत्म-विभोर बना देता है। प्रकारान्तर से 'ध्वनि' द्वारा रस का भी समर्थन हो जाता है।

यों ध्वन्यालोककार ने ध्वनि को ही काव्य की आत्मा मान लिया है। **'काव्य स्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नात पूर्वः'**। इसके द्वारा, ज्ञात होता है, आचार्य आनन्दवर्द्धन ने वैयाकरणों के स्फोट-सिद्धान्त को ही दृष्टि में रखा है। ध्वनि की परिभाषा देते हुए आचार्य आनन्दवर्द्धन कहते हैं—

तत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनी कृत स्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्य विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः
तत्रार्थो वाच्य विशेषो वाचक विशेषः शब्दो वा
तमर्थव्यंक्तः, स काव्य विशेषो ध्वनिरिति।[1]

'तमर्थम्' शब्द से ही उस विशिष्ट अर्थ का बोध होता है जो अभिधा या लक्षणा के 'ध्वनन' से प्राप्त होता है। जैसे किसी सुन्दरी स्त्री के अवययों के अतिरिक्त उसके अवयव-जनित लावण्य की विशिष्टता है, वैसे ही वाच्य के अतिरिक्त ध्वनि की विशिष्टता है।

अभिनवगुप्त और आगे चलकर मम्मट ने भी ध्वनि की व्याख्या बड़े विस्तार से स्पष्टतापूर्वक की।

ध्वनि सिद्धान्त के समर्थकों ने काव्य के तीन भेद निरूपित किए हैं—उत्तम, मध्यम और अधम।

उत्तम काव्य वह है जिसमें व्यंग्य प्रधान है। व्यंग्य का प्रमुख आधार ध्वनि है। इस ध्वनि को भी तीन भेदों में विभाजित किया गया है—रस ध्वनि, अलंकार ध्वनि और वस्तु ध्वनि। मध्यम काव्य में ध्वनि का प्राधान्य नहीं है, वह वाच्यार्थ के ही स्तर पर रहता है। इसे गुणीभूत व्यंग्य भी कहते हैं। अधम काव्य में ध्वनि तो होती ही नहीं है, वाच्य भी चमत्कारहीन होता है। इसके अन्तर्गत चित्र-काव्य है अथवा ऐसा काव्य जिसमें सामान्य वर्णन होता है। उदाहरण देखिए—

उत्तम काव्य— **वर अनुहार बरात न भाई।**
हँसी करैहहु पर पुर जाई॥ तुलसी (व्यंग्य)

मध्यम काव्य—**कहँ कुंभज कहँ सिन्धु अपारा।**
सोषेउ सकल विदित संसारा॥ ,, (गुणीभूत व्यंग्य)

अधम काव्य— **ऐसे कहत निशाचर धावा।**
अब नहिं बचहुँ तुमहि मैं खावा॥ ,, (अधम काव्य)

अभिनवगुप्त और विश्वनाथ ने तो अधम काव्य को काव्य की श्रेणी में भी नहीं रक्खा।

ध्वनि-सिद्धान्त का विस्तार बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से किया गया है। ध्वनि का आधार व्यञ्जना है। इस व्यञ्जना के दो भेद हैं—शाब्दी और आर्थी। शाब्दी के भी दो भेद हैं :—लक्षणामूलक और अभिधामूलक। लक्षणामूलक व्यंग्य के भी दो भेद हैं। गूढ़ व्यंग्य और अगूढ़ व्यंग्य :–

---

१. ध्वन्यालोक १–१

शब्दो विविक्षतार्थैक वाचकोन्येषु सत्स्वपि
उभावेतावलंकार्यौं तयोः पुनरलंकृतिः
अर्थः सहृदयाल्हादकारी स्वस्पन्द सुन्दरः
वक्रोक्तिरेव वैदग्धभंगी भणितिरुच्यते।

उन्होंने निर्दिष्ट किया कि सहृदयों को आह्लाद देने वाला वाग्वैदग्ध्य, जो प्रतिभाजन्य है, वही काव्य का सर्वस्व है, जीवन (जीवितम्) है। वर्ण-विन्यास वक्रत्व, वाक्य तथा वस्तु वैचित्र्य-वक्रत्व, प्रकरण तथा प्रबन्ध-वक्रत्व वास्तव में काव्य की व्यापक शोभा है। कथन की कला में ही काव्य है। उसी से अलंकारों की व्यवस्था भी की जा सकती है। ध्वनि-सिद्धान्त भी वक्रोक्ति में अन्तर्भूत है। एक ओर कुन्तक ने 'विचित्रा अभिधा' कह कर ध्वनि सम्प्रदाय को और दूसरी ओर अलंकार कह कर अलंकार सम्प्रदाय को अपने वक्रोक्ति-सम्प्रदाय में लीन करने का प्रयत्न किया।

इस भाँति 'विचित्रा अभिधा सम्पन्न सालंकारा' वक्रोक्ति ही काव्य की आत्मा है। वक्रोक्ति एक महान् कला है। इस कला के अन्तर्गत शब्द और अर्थ की महान् सम्भावनाएँ हैं। इसी अर्थ का सब से बड़ा उत्कर्ष रस में है। अतः रस भी वक्रोक्ति का एक तत्व कहा जा सकता है। इस भाँति वक्रोक्ति को आचार्य कुन्तक ने एक अत्यन्त व्यापक सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया है। डॉ० नगेन्द्र का कथन है कि "कुन्तक ने काव्य-रचना के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्व से लेकर अधिक से अधिक व्यापक तत्व का विस्तार से विवेचन प्रस्तुत कर भारतीय सौन्दर्य-शास्त्र में एक नवीन पद्धति का उद्घाटन किया है।"[1]

वक्रोक्ति को छः भेदों में विभाजित किया गया है :—

१. वर्ण विन्यास वक्रता—**तो पर वारों उर्बसी, सुनु राधिके सुजान।**
तू मोहन के उरबसी, ह्वै उरबसी समान॥ (बिहारी)

२. पद पूर्वार्ध वक्रता—**कौन सुनै कासों कहौं, सुरति बिसारी नाह।**
बदाबदी जिय लेत है, ये बदरा बदराह॥ (,,)

३. पद परार्ध वक्रता—**हौं ही बौरी बिरह बस, के बौरौ सब गाँव।**
कहा जानि ये कहत हैं, ससिहि सीतकर नाव॥ (,,)

४. वाक्य वक्रता—**नासा मोरि नचाय दृग करी कका की सौंह।**
काँटे सी कसकत हिये, गड़ी कटीली भौंह॥ (,,)

५. प्रकरण वक्रता—**एक राम तापस तिय तारी।**
नाम कोटि खल कुमति उधारी॥ (तुलसी)

---
१. रीतिकाव्य का शास्त्रीय पृष्ठाधार—हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, पृष्ठ ११५।

६. प्रबंध वक्रता—   **(समस्त महाकाव्य या प्रबंध काव्य)**

बन्दौं मुनि पद कंजु, रामायन जिन निर्मयउ ।
सखर सकोमल मंजु, दोष रहित दूषण-सहित ।। **(तुलसी)**

इस भाँति कुन्तक का वक्रोक्ति सम्प्रदाय समस्त काव्य-सौन्दर्य का प्रतीक होकर कवि-कौशल से कला की प्रतिष्ठा करता है ।

उपर्युक्त पाँचों सम्प्रदायों ने काव्य के समस्त सम्भव पक्षों पर अत्यन्त गहराई से विचार किया है । प्रत्येक का दृष्टिकोण अपने निरूपित सिद्धान्त को काव्य की आत्मा स्थिर करने में था । इस लक्ष्य-प्राप्ति के लिए प्रत्येक सिद्धान्त का न केवल निरपेक्ष्य विवेचन हुआ वरन् अन्य सिद्धान्तों को दृष्टि में रखते हुए सापेक्ष्य विवेचन भी हुआ । इन सिद्धान्तों में काव्य के सूक्ष्म और स्थूल दोनों पक्षों में संघर्ष चला । जहाँ अलंकार, रीति और वक्रोक्ति सिद्धान्त ने काव्य के समस्त कला-पक्ष को उभारने का प्रयत्न किया वहाँ रस और ध्वनि ने मनोविज्ञान-पक्ष के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रहस्यों का अन्वेषण किया । साधारणीकरण के माध्यम से काव्य की परिधि में समस्त भावनाओं को उदात्तीकरण के नये आलोक में निरूपित किया गया । काव्य की परिभाषा में जीवन की अभिव्यक्ति नाना रूपों में हुई और काव्य-शास्त्र मानव-मनोविज्ञान शास्त्र के रूप में निरूपित हुआ ।

इस भाँति काव्य के अंतरंग और बहिरंग की जितनी विस्तृत और अन्तर्व्यापिनी समीक्षा संस्कृत साहित्य में हुई उतनी सम्भवतः संसार के अन्य किसी साहित्य में न हुई होगी ।

इन काव्य सम्प्रदायों का निर्देश निम्न तालिका में इस प्रकार है :—

रस		अलंकार	रीति	ध्वनि	वक्रोक्ति
काल	प्रथम शती	सप्तमशती	अष्टम शती	नवम शती	दशम शती
आचार्य	भरत	भामह	वामन	आनन्दवर्द्धन	कुंतक
ग्रन्थ	नाट्य-शास्त्र	काव्यालंकार	काव्यालंकार सूत्र	ध्वन्यालोक	वक्रोक्ति जीवितम्

वक्रोक्तिकार कुंतक के उपरान्त काव्य की अन्वेषणशील प्रतिभा जैसे स्थिर हो गई और किसी आचार्य ने काव्य के सौन्दर्य और उसकी विधाओं के सम्बन्ध में कोई मौलिक दृष्टिकोण उपस्थित नहीं किया । कुंतक के उपरान्त जितने भी आचार्य हुए उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के दृष्टिकोण का अनुकरण करते हुए न्यूनाधिक
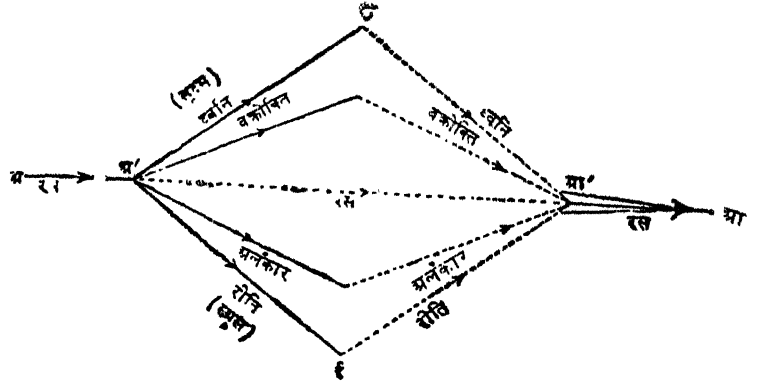
[रस से प्रेरणा प्राप्त कर अलंकार, रीति (स्थूल), और ध्वनि तथा वक्रोक्ति (सूक्ष्म) निर्धारित किए गए। पूर्व आचार्यों ने अपने विशिष्ट सम्प्रदाय की रूपरेखा पूर्ण तर्क और चिन्तन से उपस्थित की, इसलिए ये रेखाएँ गहरी हैं परवर्ती आचार्यों ने किसी विशिष्ट सम्प्रदाय का समर्थन न करते हुए सबको किसी न किसी सम्प्रदाय में अन्तर्भूत किया अथवा एक सिद्धान्त के साथ अन्य सिद्धान्तों का भी निरूपण किया इसलिए 'इ ई' के अनन्तर रेखाएँ (बिन्दुमय) कटी हुई हैं। इन समस्त सम्प्रदायों में रस की भावना अन्तर्भूत है, इसलिए मध्य में 'रस' की रेखा बिन्दुमय है। 'आ' के बाद आ तक पुनः रस की प्रतिष्ठा और उसका प्राधान्य हो गया। अतः उसका अभिव्यक्तीकरण तीन रेखाओं द्वारा किया गया है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि रस का रूप अनेक कसौटियों पर कसे जाने के उपरान्त और भी निखर आया।]

रूप में काव्य के विविध अंगों का निरूपण किया। किसी ने अलंकारों पर विवेचन किया, किसी ने रस, ध्वनि या रीति की समीक्षा की। ऐसे आचार्यों में मम्मट, जयदेव, अप्पय दीक्षित, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ आदि ने काव्यांगों के विवेचन में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। जिस प्रकार एक सरिता अपने उद्गम स्थान से तन्वंगी होकर ही चलती है किन्तु अपने प्रवाह में स्थूल हो जाती है, उसी प्रकार काव्य-शास्त्र के आदि आचार्यों के सिद्धान्त और सम्प्रदाय समय की गति पाकर अनेक चिन्तकों और मनीषियों की बुद्धि का वैभव प्राप्त कर बढ़े और नये-नये उदाहरणों से सम्पुष्ट हुए। इन्हीं परवर्ती आचार्यों की प्रतिभा ने लक्षण ग्रन्थों की रचना कर काव्य को एक विशिष्ट शास्त्र का रूप दिया जिसमें काव्यांगों की विवेचना विस्तृत और व्यापक रूप से हो सके।

रस-सिद्धान्त ने ही अन्य सिद्धान्तों को प्रेरणा दी। इन सिद्धान्तों ने अपनी विकासोन्मुखी रूपरेखा में अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति की उद्भावना की किन्तु रस-सिद्धान्त की अन्तर्धारा सभी में प्रवाहित होती रही। समस्त व्याख्या और समीक्षा के उपरान्त रस-सिद्धान्त ही अन्त में प्रमुख सिद्धान्त रहा।

ब्रजभाषा के कवि

दसवीं शताब्दी के अनन्तर काव्य के सम्प्रदायों में नवीन चिन्तन का क्रम समाप्त हो गया। परवर्ती आचार्यों ने अपनी पूर्ववर्ती परम्पराओं का ही निर्वाह अपनी प्रतिभा और विचार-वैभव से अवश्य किया किन्तु वे किसी नवीन सम्प्रदाय की कल्पना नहीं कर सके। उन्होंने अपने काव्य-ग्रन्थों में सभी काव्यांगों का समावेश कर काव्य-शास्त्र की परम्परा आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया। यह बात दूसरी है कि किसी-किसी आचार्य ने केवल अलंकार-शास्त्र पर ग्रन्थ लिखे किन्तु अधिकांश आचार्यों ने काव्य के सभी अंगों को एक ही स्थान पर समेटने की चेष्टा की। इस भाँति काव्य-शास्त्र में दो परम्पराएँ चलीं, एक तो जयदेव और अप्पय दीक्षित की, जिन्होंने अलंकार पर स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना की। दूसरी आचार्य मम्मट और विश्वनाथ की, जिन्होंने अलंकार के साथ काव्य के अन्य अंगों की भी मीमांसा की।

ब्रजभाषा के कवियों ने उपर्युक्त दोनों ही पद्धतियों का अनुकरण किया है। पहली परम्परा, जिसका इष्ट केवल अलंकार निरूपण है, अधिक शक्ति-संग्रह नहीं कर सकी किन्तु दूसरी परम्परा में, जिसमें अलंकार के साथ समस्त काव्यांग थे, बड़े विस्तार से कला-काल में समादृत हुई। काव्यांगों में रस प्रमुख था और इस रस के अंतर्गत शृंगार रस मानो कामदेव के पंच पुष्प बाणों का पराग ही बन गया। इस पराग के असंख्य कणों के रूप में कवित्त और सवैये नायक-नायिकाओं के मदनोत्सवों में पुरुष और स्त्रियों की भाँति नृत्य करते रहे। समस्त रीति-काव्य रस से आप्लावित हो गया।

(क) अलंकारवादी कवि

जिन कवियों ने केवल अलंकार-शास्त्र को अपनी काव्य-साधना का अंग बनाया, वे अलंकारों की ठीक परिभाषा दे भी सके, इसमें सन्देह है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा दी गई अलंकारों की परिभाषा को कभी ठीक तरह से समझने की चेष्टा भी नहीं की, और उस परिभाषा का स्थूल-सा रूप लेकर उदाहरण के लिए अपनी प्रतिभा के वसंत में सहस्रों कुसुमों की राशि लगा दी। अलंकार का लक्षण एक शिथिल और अटपटे दोहे में कहकर वे उदाहरण में अपनी कल्पना की स्वच्छन्द और मोहक उड़ान भर लेते थे। ऐसा ज्ञात होता है कि लक्षण का दोहा एक चोबदार था जो उदाहरण रूपी नरेश के आगमन की सूचना मात्र देता था और तब उदाहरण के रूप में यह बाँका नरेश अपनी वैभव की रत्न-राशि लुटाता हुआ बड़ी उमंग से झूमता हुआ आकर सिंहासन पर बैठ जाता था।

भूषण ने मालोपमा की परिभाषा एक अत्यंत हलके दोहे में दी है—और उसका उदाहरण ऐसा दिया जिसे सुनकर शिवाजी की बाहुएँ तो फड़की ही होंगी, आफ़िस में बैठकर दो रुपये की फाउन्टेन पेन से लिखने वाले डेढ़ पसली के क्लर्क की भी बाहें हिल गई होंगी। वह प्रसिद्ध उदाहरण है :—

इन्द्र जिमि जम्भ पर, बाड़व सुअम्भ पर,
रावण स-दम्भ पर रघुकुलराज हैं।
पौन वारिवाह पर, सम्भु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज हैं।
दावा द्रुम दण्ड पर, चीता मृग झुण्ड पर,
भूषण वितुण्ड पर जैसे मृगराज हैं।
तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ बंस पर सेर सिवराज हैं॥

इस भाँति ब्रजभाषा के कवियों ने अपनी उमंग और कला को ही अधिक महत्व दिया है। अपनी मर्यादा और आत्मसम्मान के लिए वे अपना सम्बन्ध प्राचीन परम्परागत शास्त्र से जोड़े रखना चाहते थे।

संस्कृत-साहित्य में अलंकार-परम्परा की दो स्थितियाँ हैं—पहली तो वह जिसमें आचार्य भामह ने काव्य के समस्त अंगों को सौन्दर्य और वक्र-कथन का विधायक मान कर अलंकार के अन्तर्गत परिगणित कर लिया है और रस भी अलंकार का ही सहायक बन गया है, दूसरी स्थिति वह है जहाँ रस को प्रधान मान कर अलंकार को उसकी शोभा का सर्जक मान लिया गया अर्थात् अलंकार्य और अलंकार में भेद उपस्थित किया गया। संस्कृत के परवर्ती आचार्यों ने जब अलंकार को परिभाषा, सीमा और संख्या में बाँधने का प्रयत्न किया तो स्पष्टतः अलंकार्य (रस)

और अलंकार में भेद हो गया। अलंकारवादी ब्रजभाषा के कवि भी इन्हीं दो परम्पराओं में विभाजित हो गए हैं। किन्तु पहली परम्परा, जिसमें अलंकार्य और अलंकार का भेद नहीं है, अत्यन्त क्षीण है क्योंकि उसका अनुसरण करने वाले कवि अत्यंत न्यून हैं। महाकवि केशव और देव का नाम ही इस परम्परा में लिया जा सकता है। दूसरी परम्परा में रीति-काव्य के वे सभी कवि आते है जिन्होंने आचार्य मम्मट, जयदेव या अप्पय दीक्षित का अनुसरण करते हुए अलंकार्य और अलंकार में भेद मानते हुए अलंकारों का लक्षण-सहित वर्णन किया है।

इस क्षेत्र में हिन्दी के कवियों ने कोई विशेष योग-दान नहीं दिया। उन्होंने अलंकारों के क्षेत्र में लक्षणों की दृष्टि से कोई नवीन मान्यता स्थापित नहीं की। लक्षण तो उन्होंने प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों से यथावत् ही ले लिए हैं किन्तु उदाहरणों में वे स्वतंत्र हैं। देश-काल, पात्र और परिस्थितियों में डूब कर उन्होंने जो स्वरचित और मौलिक उदाहरण दिए हैं, उनसे उनकी प्रतिभा का परिचय मिलता है।

एक बात और भी है। रीति-काव्य के अनेक कवि किसी न किसी आश्रयदाता की छत्र-छाया में रह कर अपनी प्रतिभा का चमत्कार प्रदर्शित करते रहे। उनके लिए यह आवश्यक था कि वे जिस आश्रयदाता के संरक्षण में रह कर आनन्द और विलास का जीवन व्यतीत करते थे, उसकी प्रशस्ति का गान करते। फलस्वरूप ऐसे कवियों ने अलंकारों के उदाहरणस्वरूप अपने आश्रयदाता की कीर्ति की दीपावली अनेक अलंकारों के दीपकों से जगमगाने में किसी तरह की कोर-कसर नहीं रक्खी। इस भाँति इन कवियों ने अपने अलंकार-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों में उदाहरणस्वरूप अपने आश्रयदाता के जीवन के विविध पार्श्व उद्घाटित कर उनमें वीर, शौर्य, उदारता, दानशीलता की प्रतिष्ठा कर दी। ऐसी प्रशंसा पाने के लिए आश्रयदाता भी उत्सुक रहा करते थे। अतः सद्गुणों का सेतु बाँधने वाले कवियों के लिए यह स्वर्ण-अवसर था। आश्रयदाता और उनके आश्रित कवि परस्पर एक दूसरे की पूर्ति करते थे और इस प्रसंग में काव्य के वैभव को फलने-फूलने का जितना अवसर मिला, उतना सम्भवतः कभी नहीं मिल सकता था। इस भाँति इस अवसर को रीति-काव्य के शास्त्रीय दृष्टिकोण से स्वर्ण-युग मानना चाहिए।

(ख) रसवादी कवि

अलंकार-वादियों के समानान्तर ही रसवादी कवियों ने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन अधिक उत्साह और सफलता के साथ किया। यद्यपि उन्होंने रस के साथ काव्य के विविध अंगों का निरूपण लक्षण ग्रन्थों के आधार पर ही किया तथापि उन्होंने जो महत्ता रस को दी, वह किसी अंग को नहीं दी। इन रसों में भी उन्होंने शृंगार रस को विशेष महत्त्व प्रदान किया। शृंगार रस को महत्त्व देने के अनेक कारण थे :—

(१) कला-काल में सौन्दर्य के प्रति जो आसक्ति उत्पन्न हुई थी, उसकी पूर्ति के लिए वास्तुकला और चित्रकला में तो नित्य नवीन प्रयोग होते ही थे, काव्य-कला में भी प्रयोग होने स्वाभाविक थे और इस प्रयोगशीलता में सबसे अधिक उपयुक्त माध्यम शृंगार रस ही था।

(२) केन्द्रीय सत्ता के क्षीण होने पर स्थान-स्थान पर राज्य और सूबे बन गए थे। उन राज्यों के अधिपति और सूबों के सूबेदार निरंकुश होकर विलास की सामग्री का संचयन करने लगे थे। विलासिता के समुत्तेजन के लिए शृंगार रस सहायक हुआ।

(३) प्रत्येक राजा, सामन्त या सूबेदार के अन्तःपुर में शताधिक रानियाँ अथवा राजकुमारियाँ आमोद-प्रमोद की अधिकारिणी थीं। उनके वसन्तोत्सव, विहार और उत्सव प्रेम और अनुराग के सूत्रधार थे। इस समस्त वातावरण को उल्लसित करने के लिए शृंगार रस की आवश्यकता थी।

(४) राजाओं के रण-प्रयाण अथवा मृगया में संयोग और वियोग की अनेक परिस्थितियाँ उपस्थित होती थीं। उन परिस्थितियों के चित्रण के लिए शृंगार ही उपयुक्त रस समझा गया।

(५) आचार्य भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र में नायिकाओं का चित्रण रस के आलम्बन के रूप में किया था। उसी से नायिका-भेद की परम्परा विकसित हुई। उस नायिका-भेद का रूप अन्तःपुर की अनेकानेक कामिनियों पर घटित किया गया। इस भाँति नायिका-भेद शृंगार रस का प्रमुख अंग बन गया।

(६) सामन्तवादी शासन में अनेक कवियों को आश्रय प्राप्त हुआ। अपने आश्रयदाताओं का मनोरंजन और विनोद विलासिता के क्रोड़ में शृंगार-रस द्वारा ही सब से अधिक किया जा सकता था।

इस भाँति शृंगार रस अपने सम्पूर्ण अर्थ में 'रसराज' बनकर काव्य का शृंगार करने में समर्थ हुआ।

शृंगार रस का जितना अधिक विश्लेषण रीति-काव्य में हुआ उतना अन्य किसी रस का नहीं हुआ। स्थायी भाव, विभाव (आलम्बन और उद्दीपन) अनुभाव और संचारी भावों की विस्तृत समीक्षा संयोग और वियोग दोनों पक्षों को लेकर हुई। लक्षण की अपेक्षा उदाहरण-विपुलता मनोविज्ञान के न जाने कितने अन्तर्पट खोलने में समर्थ हुई। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि शृंगार रस के द्वारा प्रेम की जितनी भी अभिव्यक्तियाँ सम्भव हो सकती थीं, उतनी शृंगार रस के द्वारा हो गयीं।

इस श्रृंगार में वासना का अंश भी पर्याप्त रूप में प्रतिबिम्बित हुआ। यह वासना नायक-नायिका भेद को ही लेकर अग्रसर हुई। इसमें व्यक्तिगत विलास की छाया तो थी ही, साथ ही अपने आश्रयदाता की श्रृंगार-लोलुपता को उत्तेजना देने की आकांक्षा भी थी। जिस प्रकार अपने काव्य को गौरव प्रदान करने की दृष्टि से कवियों ने संस्कृत काव्य-शास्त्र के आचार्यों की विविध साम्प्रदायिक परि-पाटियों से अपने काव्य को सम्बद्ध किया था, उसी भाँति इस नायक-नायिका निरूपण को महत्त्व और सम्मान देने की दृष्टि से कवियों ने कृष्ण और राधा की आसक्तियों से इसे सम्बद्ध कर दिया। वल्लभाचार्य और रूपगोस्वामी ने कृष्ण की उपासना में श्रृंगार-तत्व का आश्रय लेकर कृष्ण और राधा के रति-विषयक क्रिया-कलापों को भक्ति-रस में निरूपित कर ही दिया था। उसी का आश्रय लेकर रीति-काव्य के कवियों ने अपनी विलास-क्रीड़ा को राधा और कृष्ण के नामों का कवच पहिना कर 'रति-रण' में नियोजित कर दिया। तभी तो शायद कविवर भिखारी दास को कहना पड़ा—

आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई,
न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।

दोनों सम्प्रदायों में ब्रजभाषा के मुख्य कवियों की सूची स्थूल रूप से निम्न प्रकार से दी जा सकती है :—

(क) अलंकारवादी कवि

१. जसवन्त सिंह	सं० १६६५	भाषा भूषण
२. मतिराम	सं० १७१६	ललित ललाम
३. भूषण	सं० १७३०	शिवराजभूषण
४. गोपाल राय	सं० १७३६	भूषण विलास
५. सूरति मिश्र	सं० १७६६	अलंकारमाला
६. श्रीपति	सं० १७७०	अलंकार गंगा
७. रसिक सुमति	सं० १७८६	अलंकार चन्द्रोदय
८. रघुनाथ	सं० १७५६	रसिक मोहन
९. गोविन्द कवि	सं० १७९२	कर्णाभरण
१०. दूलह	सं० १८००	कविकुल कंठाभरण
११. गुमान मिश्र	सं० १८१८	अलंकार दर्पण
१२. बैरीसाल	सं० १८२५	भाषाभरण
१३. ऋषिनाथ	सं० १८३१	अलंकारमणि मंजरी
१४. पद्माकर	सं० १८६७	पद्माभरण
१५. प्रतापसाहि	सं० १८९४	अलंकार चिन्तामणि
१६. ग्वालकवि	सं० १९००	अलंकार भ्रम भंजन

(ख) रसवादी कवि

१. केशवदास	सं० १५४८	रसिक प्रिया
२. कृपाराम	सं० १५५८	हिततरंगिनी
३. मतिराम	सं० १७००	रसराज
४. सुखदेव मिश्र	सं० १७३३	श्रृंगारलता
५. कालिदास	सं० १७४९	वधूविनोद
६. देव	सं० १७५०	सुखसागर तरंग
७. लाल कवि	सं० १७५०	विष्णु विलास
८. केशवराय	सं० १७५४	नायिका भेद
९. बलवीर	सं० १७५९	दंपति विलास
१०. सूरति मिश्र	सं० १७६०	रस रत्नाकर
११. श्रीपति	सं० १७७०	रससागर
१२. याकूब खाँ	सं० १७७५	रसभूषण
१३. वीर	सं० १७७९	कृष्ण चन्द्रिका
१४. चिन्तामणि	सं० १७८८	श्रृंगार मंजरी
१५. भिखारीदास	सं० १७९४	रस सारांश
१६. यशोदानन्दन	सं० १८७२	बरवै नायिका भेद

रसवादी कवियों ने विविध काव्यांगों का भी निरूपण किया है किन्तु उन्होंने रस और उसके अन्तर्गत नायिका-भेद को ही प्रमुखता प्रदान की है।

वस्तुतः श्रृंगार की अभिव्यक्ति उदात्त मनोभाव को लेकर होती है। इसके मूल तत्व में वह रागात्मक प्रेरणा है जिससे विश्व-मैत्री का सूत्र दृढ़ होता है। इसके स्थायी भाव में वह रति है जो भगवद् विषयक रति का रूप ग्रहण करती है। महाकवि घनानन्द की प्रेमासक्ति किस प्रकार भगवान् कृष्ण की प्रेमानुरक्ति बन गई, इसका प्रमाण रीति काव्य ही है। जहाँ इस रीति में व्यक्तिगत वासना कीट की भाँति प्रवेश कर जाती है, वहाँ काव्य का महत्त्व विश्व-कल्याण के उच्च शिखर से नीचे गिर जाता है।

सिंहावलोकन

विकास की बहुमुखी प्रवृत्तियों में साहित्य का शतदल सहस्रदल कमल की भाँति मुकुलित होता है। उसमें विविध प्रकार की ध्वनियाँ झंकृत होती हैं। सहज साधना की अनन्त सम्भावनाओं में किन-किन क्षेत्रों की संवेदनाएँ स्वयमेव मुखरित हो जाती हैं, इसका आलेख भी कठिन है। जिस प्रकार वन-भूमि में किसी प्रकार का प्रयत्न किए बिना ही वृक्ष अंकुरित हो उठते हैं और ग्रीष्म, वर्षा और शीत-दोल पर चढ़ कर आकाश तक चले जाते हैं, उसी प्रकार परम्परा, युग-

प्रभाव और भविष्य की सुरम्य सम्भावनाओं के आधार पर साहित्य न जाने किस क्षेत्र से उठता है और शक्ति-संचय करता हुआ जन-मानस के तट पर वट वृक्ष की भाँति अक्षय हो जाता है। उसकी एक-एक शाखा वृक्ष का रूप धारण करती है और अपनी विस्तार-शीलता में शीतल छाया बिखेरती रहती है। शताब्दियों तक यह क्रम अपना विस्तार करता है और साहित्य वामन की भाँति अवतरित होकर विराट् बन जाता है। इस विराट् का एक चरण भूमि पर स्थापित होता है और दूसरा चरण धीरे-धीरे उठ कर तीन लोकों का ही नहीं, अनेक लोकों का विस्तार नाप कर अभिव्यक्ति के मस्तक पर स्थापित हो जाता है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास का भक्तिकाल 'जन-मानस' से उद्भूत होकर 'सागर' की भाँति तरंगित हुआ। उसके विस्तार ने लोक-तत्वों के अनेकानेक रत्नों को बिखेर दिया। ये लोक-तत्व मणि की भाँति सामान्य जनता की मति की शुक्तियों में उत्पन्न हुए। शारदा की प्रेरणा स्वाति नक्षत्र की भाँति उदित हुई और उसने विचारों की अजस्र वारि-धारा का वर्षण किया। इन लोक-तत्वों ने साहित्य को सर्वजनीन बनाया और वह जन-चेतना के रूप में साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में स्पन्दित हुआ।

भक्तिकाल और कला-काल

भक्तिकाल समस्त लोक तत्वों को लेकर कला-काल के सिंह-द्वार पर आया था पर स्वयं ही कला-काल में परिणत हो गया। गंगा से मिल कर यमुना ने तो अपना नाम खो दिया किन्तु कला-काल की यमुना इतना अथाह जल लेकर चली कि उसने भक्ति की भागीरथी को अपने में लीन कर लिया और समस्त भक्ति की तरंगों को कला की बेला में शान्त कर दिया। कृष्ण का अलौकिक और दिव्य सौन्दर्य नख-शिख के उपमानों में जड़ीभूत हो गया जैसे गंगा का उन्मुक्त प्रवाह नहरों में शान्त हो कर खेतों के चतुर्भुज रूप को सींचने के लिए नियोजित हो जाय। इस यमुना पर न जाने कितने केलि-कुंज बन गए जिनमें कृष्ण का वेश धारण कर विलासी युवक किसी मद-यौवना को राधा के नाम से पुकारते हुए अपनी विलास-बाँसुरी में विरह और मिलन का निमंत्रण देने लगे। कृष्ण की अलौकिक लीलाएँ न जाने कैसे प्रेम की लीलाओं में परिणत हो गईं और 'गोरस' चाहने वाले कृष्ण 'गो-रस' (इन्द्रिय रस) चाहने लगे। नायक विदूषक बन गया अथवा विदूषक ही नायक को पीछे ढकेल कर नायिका से प्रेम करने लगा। राधा की आराधना विलास की साधना की सेज बन गई जिस पर किसी ने कन्हैया को सुला दिया।[1]

---

१. मोहि लखि सोवत, बिथोरिगो सुबेनी बनी,
तोरिगो हियो को हार छोरिगो सु-गैया* को।

यह कला-काल भक्ति-काल से वैसे ही विकसित हो गया, जिस प्रकार कैशोर से यौवन का विकास होता है। किशोरावस्था की निरीहता और पवित्र सौन्दर्य-सुषमा कब और कैसे यौवन की मादकता में परिणत हो जाती है इसका अभिज्ञान मन की यवनिकाओं के उठने पर होता है। साहित्य की यह वयः सन्धि युग-प्रभाव से अथवा संस्कृत-साहित्य के रसों, अलंकारों, ध्वनियों और वक्रोक्तियों से अथवा अन्तर्निहित भाव-तत्त्वों से सुसज्जित हुई है, यह अन्वेषण का विषय है।

युग प्रभाव

कवि युग-निर्माता होता है। अपने अनुभव और जीवनगत अन्तर्दृष्टि से वह न केवल अपने युग की प्रवृत्तियों का ही नियामक होता है, प्रत्युत शताब्दियों की विचारधारा की गति-विधि भी देख सकता है। इतका कारण यह है कि कवि मानव-जगत का पूर्ण अधिकारी है, मानव-जीवन के सम्पूर्ण मनोविज्ञान में गतिशील है। उसे जीवन की विविध परिस्थितियों में होने वाले मन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दन का पूर्ण ज्ञान है और उसकी श्रवणेन्द्रिय मानवता के हृदय की पुकार से परिचित है। अतः वह जानता है कि किन परिस्थितियों में मानव, पुरुष हो या स्त्री, किस प्रकार क्रियाशील अथवा प्रतिक्रियाशील होकर आचरण करेगा। मानव की प्रवृत्तियाँ सभी वर्गों में समान हैं—प्रेम, हर्ष, करुणा, उत्साह, क्रोध, घृणा, ग्लानि, आश्चर्य और शान्ति प्रत्येक हृदय में आन्दोलित होती हैं। मनुष्य चाहे भारत का हो, चाहे रूस का, चाहे जमेरिका का, चाहे दक्षिण अफ्रीका का। उसकी अभिव्यक्ति में अन्तर भले ही हो, किन्तु मूलतः प्रवृत्तियाँ समान ही हैं। अत: जब कवि इन मानव-प्रवृत्तियों पर पूर्ण अधिकार के साथ अपनी लेखनी उठाता है तो उसकी कृति समस्त संसार में, जहाँ तक मानवता का क्षेत्र है, आदर और श्रद्धा का निर्माल्य बनती है। यही कारण है कि सूरदास की यशोदा संसार की समस्त माताओं का प्रतिनिधित्व करती है और बालकृष्ण समस्त संसार के बालकों के साथ टोलियाँ बना कर क्रीड़ा करते हैं। तुलसी के राम संसार के किसी भी भाग में लोक-मर्यादा की स्थापना करते हैं और भरत आत्मीयता और आत्म-समर्पण की अपार सम्पत्ति लिए किसी भी स्नह-

---

कहै पद्माकर त्यों घोरिगो घनेरो दुःख
बोरिगो बिसासी आज लाज ही की नैया को।
अहित अनैसो ऐसो कौन उपहास यहै
सोचत खरी मैं परी जोवत जुन्हैया को।
बूझैंगे चवैया तब कैहों कहा दैया,
इत पारिगो को मैया ! मेरी सेज पै कन्हैया को ॥

(शंका संचारी—पद्माकर) काव्यप्रभाकर—पृष्ठ ३९१

प्रवण छोटे भाई का प्रतिनिधित्व करते हैं। यही नहीं, वे समस्त छोटे भाइयों के मन के विकारों का परिष्कार भी करते हैं। मीरां के 'गिरधर नागर' का प्रतिबिम्ब किसी भी प्रेमी पति में देखा जा सकता है और कबीर की 'विरहिन' किसी भी विरहणी के आँसुओं में अपने स्मृति-चित्रों की रेखा खींच सकती है। ऐसे कवियों की रचनाओं में विश्वजनीनता अनन्त कण्ठों से मुखरित होती है और वे शताब्दियों के मानव को दया, क्षमा, उपकार, आत्म-समर्पण और विश्व-कल्याण का संदेश दे सकते हैं।

इस विश्वजनीनता के साथ ही साथ कवि अपने युग की प्रवृत्तियों का नियामक भी होता है। वह अपने विशाल अनुभव और जीवनगत अन्तर्दृष्टि से समाज अथवा युग के समस्त कार्य-व्यापारों को देखता है, समझता है। वह अपने युग के समाज की बिखरी हुई ईंटों से मानवता के राजमहल का निर्माण करता है। यह भी सम्भव है कि वह अपने युग में उठने वाली या समाज को आन्दोलित करने वाली प्रत्येक प्रगति को हृदयंगम करे, उससे लाभ भी उठाये। वह विविध पुष्पों से पराग एकत्र कर उसे मधु में परिणत कर दे। किन्तु यह भी सम्भव हो सकता है कि वह समाज की परिस्थिति और प्रगति से प्रभावित हो। कवि समाज का प्राणी है, अवयव है। उल्कापात होने पर नक्षत्र-मालिनी में प्रकाश की रेखा खिंच उठे। भू-कम्प होने पर प्रकृति की सहज शोभा विकृत हो जावे। ज्वालामुखी के विस्फोट से नदियों की दिशा बदल जावे। अतः समाज की परिस्थिति का प्रभाव समाज के अवयवों पर पड़े बिना नहीं रह सकता।

यह बात अलग है कि वह उस प्रभाव को अपने निर्माण का अंग बना ले या उसी प्रभाव को अपना शक्तिशाली आयुध बना कर समाज या युग में समूल परिवर्तन ला दे। पश्चिम के आलोचकों ने साहित्य को ऐसा पुत्र कहा है जो पितृहन्ता है। यह साहित्य रूपी पुत्र समाजरूपी पिता से उत्पन्न होता है और आगे चलकर उसी समाज में परिवर्तन उत्पन्न कर उसकी हत्या करता है। किन्तु मैं इससे सहमत नहीं हूँ। साहित्य में हिंसा नहीं है। जिस साहित्य में हिंसा होती है, वह साहित्य मानव को कल्याण के पथ पर अग्रसर नहीं कर सकता। कंस के हाथों क्या मथुरा की उन्नति हो सकती थी? वह छोटे-छोटे निरीह बच्चों को मार कर समाज के विकास का द्वार ही बन्द करना चाहता था। साहित्य समाज का विनाश नहीं, उसे सुधार-सँवार कर प्रगति के पथ पर अग्रसर करता है। साहित्य की महत्ता पिता की महत्ता है, वह अपने समाज-रूपी शिशु की प्रवृत्तियों को देख कर उनमें परिष्कार करता है एवं मानवता को श्रेष्ठ गुणों से समन्वित कर शताब्दियों के लिए कर्मठ बना देता है। अतः मैं साहित्य को पुत्र नहीं, पिता समझता हूँ। साहित्य की विचार-धारा तो अनन्तकाल तक चलने वाली है, जहाँ समाज का निर्माण युगों के प्रभावों से ही है।

इसलिए मैं समाज को उतना महत्त्व नहीं देता जितना साहित्य को। साहित्य प्रधान है, समाज गौण।

समाज और युग का जो प्रभाव साहित्य पर पड़ता है, वह किसी न किसी अंश में सत्य अवश्य कहा जा सकता है। जब साहित्य समाज में निवास करता है तो समाज की प्रवृत्तियाँ उसके सम्पर्क में अवश्य आती हैं और जो प्रवृत्ति शक्ति-शालिनी होती है वह साहित्यकार के दृष्टिकोण में किसी न किसी प्रकार परिवर्तन अवश्य लाती है। हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में भी युग का प्रभाव कवियों की कविताओं पर पड़ा था। राजनीति, धर्म, समाज ने कवियों की दृष्टि व्यावहारिक जगत की ओर अवश्य मोड़ दी थी। इसी प्रकार कला-काल भी युग-प्रभाव से विशेष मात्रा में निर्मित हुआ।

संस्कृत साहित्य की रस-रीति

साहित्य के इतिहास में कला-काल का गौरव चिरस्थायी इसलिए भी मानना चाहिए कि उसके द्वारा संस्कृत साहित्य का समस्त काव्यशास्त्रीय वैभव हिन्दी काव्य का अंग बन गया। संस्कृत काव्य-शास्त्र के समस्त उत्तराधिकार को प्राप्त कर हिन्दी काव्य ने अपने भाव-क्षेत्र को सम्पन्न ही नहीं अपितु पुष्ट और शक्तिशाली भी बना लिया। जैसे कला-काल दिग्विजय के लिए निकला हो और उसने अपने पूर्वजों के अर्जित राज्य और कोष को प्राप्त कर लिया हो। कला-काल ने साधक बन कर संस्कृत का अंजन अपने नेत्रों में लगाया और 'भूतल' में न जाने कितने कौतुक देखे।[1] हिन्दी काव्य को कला-काल की यह सब से बड़ी देन है।

———

१. यथा सु-अंजन आँजि दृगँ, साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखहिं शैल वन, भूतल भूरि निधान॥ (तुलसी)

तृतीय प्रकरण

साहित्य का वस्तु-विश्लेषण

प्रवेश

कला-काल की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों के साथ संस्कृत काव्य-शास्त्र की परम्परा ने मिल कर ऐसे साहित्य की सृष्टि के लिए वे समस्त सम्भावनाएँ प्रस्तुत कर दीं जिनसे जीवन अपने समस्त वैभव के साथ साहित्य में अवतरित हो सके। जीवन में वह आध्यात्मिक अंकुश कुंठित हो गया था जिससे मन का मातंग केवल भक्ति के राजमार्ग पर ही चल सकता था। अब तो उसके पैर की शृंखलाएँ भी छोड़ दी गई थीं जिससे वह लौकिक जीवन के वैभव की वीथियों में उन्मत्त हो कर विचरण कर सकता था। रस का मान सरोवर उसके समक्ष भाव-मुक्ताओं की आन्दोलित राशियों के साथ तरंगित हो रहा था जहाँ वह मन भर कर जल-विहार और जल-क्रीड़ा कर सकता था। अंलकारों की चित्रावली उसके गण्डस्थल पर चित्रित की जा सकती थी और वह क्रीड़ा करते हुए नाना प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न कर सकता था। उसका वक्र तुण्ड वक्रोक्ति की भाँति न जाने कितने कलापूर्ण ढंग से घुमाव ले सकता था और न जाने कितनी रीतियों से वह अपनी वृत्ति का, कभी मधुर ढंग से, कभी ओज की चिघाड़ से और कभी अपनी भाव-भंगिमा के प्रसाद से परिचय दे सकता था।

काव्य की सिद्धान्त-परम्परा अपनी आकर्षक रत्न-राशि के रूप में कवि के समक्ष बिखरी पड़ी थी। जिस भाँति राम-जन्म के अवसर पर महाराज दशरथ ने हाटक, धेनु, वसन, मणि का मुक्त हस्त से दान किया था उसी भाँति कला-काल की परिस्थितियों ने सौन्दर्य के समस्त उपादानों का दान कवियों को किया था। 'ध्वज पताक तोरण' की भाँति अलंकार छाये थे। आकाश से 'सुमन वृष्टि' की भाँति 'सु-मन' वृष्टि हो रही थी। नायिका भेद के लिए 'वृन्द-वृन्द मिलि चलीं लुगाईं। सहज सिंगार किये उठि धाईं।' कविगण 'मागध, सूत, बन्दिगन' की भाँति राजाओं का यश गा रहे थे। भावों के क्षेत्र में कवियों ने अपना 'सर्वस दान' दिया और जिसने उसे पाया उसने भी उसे अपने पास नहीं रक्खा। रस भी 'मृगमद, चन्दन और कुंकुम' की कीच बन गया। इस प्रकार रीतिकाव्य के सुन्दर शिशु का जन्म हुआ।

रीति-सापेक्ष्य साहित्य का निर्माण करने में कवियों ने सामान्य रूप से आचार्य मम्मट, जयदेव, अप्पय दीक्षित, विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ के

ग्रन्थों का ही आश्रय लिया। किन्तु यह आश्रय केवल इसलिए था कि उनको केन्द्र मान कर वे अपनी उन्मुक्त प्रतिभा की परिधि अधिक से अधिक दूर तक खींच सकें, इसके साथ ही अपने आश्रयदाता से सम्मान तथा अपने समकालीन कवियों से आदर प्राप्त कर सकें। इन कवियों के अतिरिक्त ऐसे कवि भी थे जो रीति-परम्परा के ज्ञान से मंडित तो अवश्य थे किन्तु उन्हें काव्यांगों के लक्षण देने की परिपाटी अच्छी नहीं लगी। उन्होंने काव्यांगों को दृष्टि में रखते हुए उदाहरण के रूप में मोहक काव्य-रचना की। वे अपना काव्य ऐसे पाठकों के लिए निर्मित करते थे जो उनके उदाहरणों से काव्य का लक्षण स्वयं ही जान सकते थे। उनका काव्य जैसे अन्य कवियों या काव्य-प्रेमियों के लिए एक चुनौती थी कि बतलाइए, इस छंद में कौन अलंकार है? अथवा इस सन्दर्भ में कौन-सी नायिका है? वे जैसे काव्यांगों में डूब कर उनकी अभिव्यक्ति अपनी काव्य-प्रतिभा से अधिक से अधिक चमत्कारपूर्ण ढंग से करना चाहते थे।

इनके अतिरिक्त कवियों की एक कोटि और भी थी जो रीति काव्य से प्रभावित तो अवश्य थे किन्तु वे किसी काव्यांग के लक्षण या उदाहरण-रूप में अपनी प्रतिभा का प्रयोग नहीं करना चाहते थे। किसी आश्रयदाता के कीर्ति-गान में अथवा अपने प्रेम की व्यथा की अभिव्यक्ति में वे काव्य-सरस्वती की आराधना करते थे। कभी उन्हें नीति सम्बन्धी सूक्तियों में ही रस मिलता था। उनका काव्य रीति-परिपाटी के अंतर्गत हो या न हो, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं थी। वे परम्परा निरपेक्ष होकर ही काव्य-रचना में प्रवृत्त होते थे।

इस भाँति इस काल के कवियों को तीन कोटियों में विभाजित किया जा सकता है :—

१. **रीति-युक्त कवि**—जो काव्यांगों के लक्षण और उदाहरण दे कर किसी रीति ग्रन्थ का निर्माण करते थे।

२. **रीति-भुक्त कवि**—जो रीति-ज्ञान से तो मंडित थे किन्तु अपने काव्य में किसी काव्यांग का लक्षण न दे कर केवल उदाहरणों में अपना काव्य-कौशल प्रकट करते थे।

३. **रीति-मुक्त कवि**—जो रीति की किसी परम्परा का पालन न कर स्वतंत्र विषयों पर स्वतंत्र मनोवृत्ति से काव्य-रचना करते थे।

इन कवि-कोटियों पर विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है। साथ ही साथ जिस काव्यांग की विवेचना उनके द्वारा हुई है, उस पर भी प्रकाश डालना अनिवार्य है।

रीति-युक्त कवि

हिन्दी के रीति-युक्त कवियों ने संस्कृत काव्य-शास्त्र के आचार्यों का अनु-

सरण करते हुए काव्यांगों के लक्षण स्वरचित उदाहरणों द्वारा दिये हैं। काव्य में रस और अलंकार को प्रमुखता मिली है और अनेक कवियों ने इन पर स्वतंत्र ग्रन्थों का निर्माण किया है। इसके अंतर्गत शृंगार रस और नायिका-भेद का विवरण विस्तार से किया गया है तथा अलंकार के अंतर्गत विविध अलंकारों को शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार में विभाजित कर लक्षण और उदाहरण दिये गए हैं। अन्य काव्यांगों की भी चर्चा हुई है किन्तु वे अंग रस और अलंकार के साथ ही निबद्ध हुए हैं। रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति पर स्वतंत्र काव्य-रचना नहीं हुई। रीति-युक्त कवियों ने जब रस का चित्रण किया तो बड़े विस्तार से उन्होंने प्रत्येक अंग पर अपनी प्रतिभा का प्रकाश डाला। सामान्य रूप से जिस भाँति इन कवियों द्वारा रस की विवेचना हुई है, उसकी संक्षिप्त तालिका निम्न प्रकार है :—

संख्या	रस	स्थायी भाव	विभाव		अनुभाव	संचारी भाव
			आलम्बन	उद्दीपन		
१.	श्रृंगार	रति	नायक-नायिका	सखा-सखी, उपवन चन्द्रोदय, विहार	हास्य, विलास	उन्माद
२.	हास्य	हास	असंगत पात्र	असंगत कथन	अट्टहास, ताली, हर्षाश्रु	हर्ष, चंचलता
३.	वीर	उत्साह	शत्रु-वैभव	युद्ध-वाद्य	अंग-स्फुरण, अरुण नेत्र	गर्व, उग्रता, असूया
४.	अद्भुत	आश्चर्य	असंभव वस्तु या पात्र	गरिमा, महिमा	गद्गद कंठ, कंप, रोमांच	संदेह वितर्क
५.	रौद्र	क्रोध	शत्रु	शत्रु की उमंग	भ्रूभंग, अरुण नेत्र, स्फुरण	गर्व, चपलता
६.	करुण	शोक	प्रिय-हानि या मरण	मृत की प्रिय वस्तुओं का दर्शन, गुण-श्रवण	रुदन, पृथ्वी पर पतन	पश्चात्ताप
७.	वीभत्स	घृणा, ग्लानि	रक्त, मेद, मज्जा	दुर्गन्धि	तन-कम्प, रोमांच	मूर्छा, मोह
८.	भयानक	भय	भयानक दृश्य	भयानक दृश्य	कम्प, रोमांच	मोह
९.	शान्त	निर्वेद	गुरु, सत्संग	तपोवन, तीर्थ	रोमांच, ध्यान, स्थिरता	धैर्य, सुमति

(क) रस

इन विविध रसों में कवियों द्वारा शृंगार रस ही बड़ी उमंग से चित्रित हुआ है। नमूने के लिए उस का रूप-विस्तार उदाहरण सहित देखिए :—

शृंगार रस

स्थायी भाव—रति

सजन लगी है कहूँ कबहूँ सिंगारन कौं,
तजन लगी है कहूँ ऐसे बैसवारी की।
चखन लगी है कछू चाह पदमाकर त्यों
लखन लगी है मंजु मूरति मुरारी की।
सुन्दर गोविन्द गुन गुनन लगी है कछू
सुनन लगी है बात बाँकुरे बिहारी की।
पगन लगी है, लगी लगन हिये सों नेकु
लगन लगी है कछू पी की प्राणप्यारी की॥

(पद्माकर)

आलम्बन विभाव—नायक-नायिका

एक बेर नैन भरि देखें जाहि मोहे तौन,
माच्यो ब्रजगाँव ठाँव ठाँव में कहर है।
संग लागी डोलैं कोऊ घर ही कराहें परी,
छूट्यो खान-पान रैन-चैन बन घर है।
हरिचंद जहाँ सुनौ तहाँ चरचा है याहि,
एक प्रेम डोर नाच्यो सगर सहर है।
या में न संदेह कछू दैया हौं पुकार कहौं,
भैया की सौं मैया री! कन्हैया जादूगर है॥

(हरिश्चन्द्र)

नायिका

आई खेलि होरी घरै नवल किसोरी कहूँ,
बोरी गई रंग में सुगंधन झकोरै है।
कहै पदमाकर इकन्त चलि चौकी चढ़ि,
हारन कै बारन तें फन्द-बन्द छोरै है।
घाँघरे की घूमन सु ऊरुन दुबीचै दाबि,
आँगी हू उतारि सुकुमारि मुख मोरै है।

दन्तन अधर दाबि दूनरि भई सी चापि,
चौवर पचौवर कै चूनरि निचोरे है ॥

(पदमाकर)

उद्दीपन विभाव—सखा, सखी, दूती, षटऋतु, वन, उपवन, पवन, चन्द्र, चन्द्रिका

सखा—

हौं गुवाल, पै भल चहत, तेरोई ब्रज बाल।
चलति न क्यों नँदलाल पै, लै गुलाल रंग लाल॥

सखी—

सखी तिया की देह में सजे सिंगार अनेक।
कजरारी अँखियान में, भूली काजर एक॥

दूती—

जाहि बचायो मेह तें, करि गिरिवर की छाँह।
ताहि स्याम जिन जारियो, बिरहानल झर माँह॥

षटऋतु-वसन्त—

पात बिन कीन्हें ऐसी भाँति गन बेलिन के
परत न चीन्हें जे वे लरजत लुंज हैं।
कहै पदमाकर बिसासी या बसन्त के सु
ऐसे उतपात गात गोपिन के भुंज हैं॥
ऊधो! यह सूधो सो सँदेसो कहि दीजौ भले,
हरि सों हमारे ह्याँ न फूले बन कुंज हैं।
किंसुक गुलाब कचनार औ अनारन की
डारन पै डोलत अँगारन के पुंज हैं॥

वसन्त के अन्तर्गत होली—

खेलिये फाग निसंक ह्वै आज मयंक मुखी कहै भाग हमारो।
लेहु गुलाल दूहूँ कर में पिचकारिन रंग हिये महँ मारो।
भावैं तुम्हें सो करौ मोहिं लाल पै पाँव परौं जिन घूंघट टारो।
बीर की सौं, हम देखि हैं कैसे, अबीर तो आँखें बचाय कै डारो॥

ग्रीष्म—

चन्दन के चहुला में परी परी पंकज की पँखुरी नरमी में।
धाय धँसी खस खानन हाय! निकुंजन पुंज फिरी फरमी में।
त्यों कवि दत्त उपाय अनेक किये सिगरी सहि बेसरमी में।
सीतल कौन करें छतियाँ बिन प्रीतम ग्रीसम की गरमी में॥

पावस—

बैठी अटा पर औधि बिसूरत, पाये सँदेस न श्रीपति पी के।
देखत छाती फटै निपटै उछटै जब बिज्जुछटा छबि नीके॥
कोकिल कूकें लगें मन लूकें उठैं हिय हूकें वियोगिनि ती के।
वारि के बाहक देह के दाहक आये बलाहक गाहक जी के॥

शरद—

होत ही इन्दु उदोत लसैं चहुँ ओर में सोर चकोर को भारी।
सेत पहार अगार भये अवनी पर पारद भो बलिहारी॥
फूली कमोद कली किलकी, अवली अलि की बलि में निरधारी।
कोपि कै चन्द तियान के मान पै, आजु मियान ते तेग निकारी॥

हेमन्त—

सेज सजाई रजाई समेत जहाँ तहाँ आई प्रिया जो सु अन्त की।
गाढ़ सुरा है तुरन्त अची तब कीनी सुरू कछु बात इकन्त की॥
त्यों हरि तोष जू सों हँसि कै रसकै चमकै सिसकै छबिवन्त की।
हूलै हिये झुक झूलै सु मूरति भूलै नहीं हमें केलि हिमन्त की॥

शिशिर—

राजत है इहि भाँति बन्यो गृह बात न बात जहाँ बिन काजै।
है हँसती हँसती चहुँघा अरु त्यों हँसती ब्रजबाल बिराजै॥
पानन को सनमान महा बहु तान तरंगन की धुन गाजै।
वल्लभ राधिका स्याम तहाँ लखु सैसिरि के मुख में सुभ भ्राजै॥

अनुभाव

श्रृंगार रस के अंतर्गत अनुभाव तीन प्रकार के माने गए हैं। सात्विक, कायिक और मानसिक। सात्विक अनुभाव भी नौ प्रकार के हैं—स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वर-भंग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलय और जृम्भा।

प्रत्येक के उदाहरण देखिए :—

स्तंभ—(गति का अवरोध)

या अनुराग की फाग लखो, जहाँ रागती राग किसोर किसोरी।
त्यों पदमाकर घाली घली फिर लाल ही लाल गुलाल की झोरी॥
जैसी की तैसी रही पिचकी, कर काहु न केसरि रंग में बोरी।
गोरिन के रँग भींजिगो साँवरो, साँवरे के रँग भींजि सु गोरी॥

स्वेद—(लज्जा से अंग-प्रत्यंग में जल)

किंकिन नेवर की झनकारिनि चारु पसारि महारस जालहिं।
काम किलोलनि में मतिराम, कलानि निहाल कियो नँदलालहिं॥

स्वेद के बिन्दु लसैं तन में रति अन्तर ही लपटानि गोपालहिं।
मानो फली मुकताफल पुंजनि हेमलता लपटानि तमालहिं ॥

रोमांच—(शरीर में रोम उठ आना)

कैंधों डरी तू खरी जल जंतु ते कै अँग भार सिवार भयो है।
कै नख तें सिख लौं पदमाकर जाहिरै झार सिंगार भयो है ॥
कैंधों कछू तोहि सीत विकार है ताहि को या उदगार भयो है।
कैंधों सु वारि विहारहि में तनु तेरो कदंब को हार भयो है ॥

स्वर-भंग—(वाणी का मौन या विपर्यय हो जाना)

जात हुती निज गोकुल को हरि आयो तहाँ लखि कै घर सूना।
तासों कह्यो पदमाकर यों अरे साँवरे बावरे तै हमें छू ना ॥
आज धौं कैसी भई सजनी, उत वा विधि बोल कढ्योई कहूँ ना।
आनि लगायो हियेसों हियो, भरि आयो गरो, कहि आयो कछू ना ॥

कंप—(शरीर का काँप उठना)

साजि सिंगारनि सेज पै पारि भई मिस ही मिस ओट जिठानी।
त्यों पद्माकर आइगो कंत इकंत जबै निज तंत में जानी ॥
सो लखि सुन्दरि सुन्दर सेज तें यों सरकी थिरकी थहरानी।
बात के लागे नहीं ठहरात है ज्यों जलजात के पात पै पानी ॥

वैवर्ण्य—(शरीर-कांति का निष्प्रभ हो जाना)

सापने हूँ न लख्यो निसि में रति भौन ते गौन कहूँ निज पी को।
त्यों पदमाकर सौति संजोग न रोग भयो अनभावतो जी को ॥
हारन सों हहरात हियो, मुकता सियरात सु बेसर ही को।
भावते के उर लागी जऊ तऊ भावती को मुख ह्वै गयो फीको ॥

अश्रु—

तच्यो आंच अति बिरह की रह्यो प्रेम रस भीजि।
नैनन के मग जल बहै हियो पसीजि पसीजि ॥

प्रलय—(तन्मयता)

ये नँदगाँव तें आये इहाँ उत आई सुता वह कौन हू ग्वाल की।
त्यों पदमाकर होत जुराजुरी, दोउन फाग करो इहि ख्याल की।
डीठि चली उनकी इनपै इनकी उनपै चली मूठ गुलाल की।
डीठि सी डीठ लगी उनको, इनके लगी मूठि सी मूठि गुलाल की ॥

जृम्भा—(आलस से जँभाई लेना)

दर दर दौरति सदन दुति, सम सुगंध सरसाति।
लखत क्यों न आलस भरी, परी तिया मुरझाति॥

'कायिक अनुभाव' शरीर में स्पष्ट होते हैं तथा मानसिक अनुभाव मन की चेष्टाओं में। इनके अंतर्गत अनेक हाव हैं। संयोग शृंगार में शरीर और मन की चेष्टाएँ ही हाव के अन्तर्गत आती हैं। ये हाव बारह प्रकार के हैं :—

लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, ललित, मोट्टायित, विब्वोक, विहृत, कुट्टमित, हेला और बोधक। इनके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं :—

लीला—(नायिका और नायक का परस्पर वेश-विनिमय)

ये इत घूँघट घालि चलें उत बाजत बाँसुरी की धुनि खोलैं।
त्यों पदमाकर ये इतै गोरस लै निकसैं यों चुकावत मोलैं।
प्रेम के पंथ सुप्रीति की पैठ में पैठत ही है दसा यह जो लैं।
राधामई भई स्याम की सूरति स्याममई भई राधिका डोलें॥

विलास—(प्रियतम को प्रसन्न करने के लिए कटाक्ष)

समुझि स्याम को सामुहें कर तें बार बगार।
मन मोहन मन हरन कों लगी करन सिंगार॥

विच्छित्ति—(अल्प शृंगार से अधिक शोभा)

जनु मलिन्द अरविन्द बिच, बस्यो चाहि मकरंद।
इमि इक मृगमद विन्दु सों, किये स्वबस ब्रजचंद॥

विभ्रम—(कार्य-विपर्यय)

बछरै खरी प्यावै गऊ तिहि को पदमाकर को मन लावत है।
तिय जानि गिरैयाँ गह्री बनमाल सु ऐंचे लला इच्यो छावत है॥
उलटी कर दोहनी मोहन की अंगुरी थन जानि कै दावत है।
दुहिबो औ दुहाइबो दोउन को सखि देखत ही बनि आवत है॥

किलकिंचित—(एक साथ ही विविध भावों का उदय)

कहति नटति रीझति खिझति, मिलति खिलत लजि जात।
भरे भौन में करत हैं, नैननि ही सों बात॥

ललित—(सरस व्यवहार)

चन्द सो आनन चाँदनी सो पट, तारे सी मोती की माल बिभाति सी।
आँखें कुमोदिनी सी हुलसी मनि दीपनि दीपक दान के जाति सी॥
हे रघुनाथ कहा कहिए पिय कों तिय पूरन पुन्य बिसाति सी।
आई जुन्हाई के देखिबे को बनि पूनों की राति में पूनों की राति सी॥

मोट्टायित—(रूप, गुण, श्रवण से प्रेम का आविर्भाव)

रूप दुहू को दुहून सुन्यों सु रहैं तब ते मनो संग सदाहीं।
ध्यान में दोऊ दुहून लखैं हरषैं अंग अंग अनंग उछाहीं ॥
मोहि रहे कब के यों दुहूँ पदमाकर और कछू सुधि नाहीं।
मोहन को मन मोहिनी में बस्यो, मोहनी को मनमोहन मांहीं ॥

विव्वोक—(मानपूर्वक प्रिय की उपेक्षा)

न्हातई न्हात तिहारेई स्याम कलिन्दियौ स्याम भई बहुतै है।
धोखेहु धोय हों यामें कहूँ तो यहै रँग सारिन में सरसै है ॥
साँवरे अंग को रंग कहूँ यह मेरे सुअंगन में लगि जैहैं।
छैल छबीले छुओगे जो मोंहि तो गातन मेरे गुराई न रैहैं ॥

विहृत—(लज्जा के कारण मौन)

यह न बात आछी कछु लहि यौवन परगास।
लाजहि तैं चुप ह्वै रहति, जो तू पिय के पास ॥

कुट्टमित—(मिथ्या दुःख से रोष)

कर ऐंचत आवत इँची तिय आपहिं पिय ओर।
झूठिहु रूसि रहै छिनक, छुवत छरा को छोर ॥

हेला—(संयोग में धृष्टता)

फाग के भीर अभीरन त्यों गहि गोविन्दै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पदमाकर ऊपर नाय अबीर की झोरी ॥
छीनि पितंमर कम्मर तें सु बिदा दई मींड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाइ कही मुसकाइ लला ! फिर आइयो खेलन होरी ॥

बोधक—(संकेत)

मन्दहि मन्द अनन्द ह्वै सुन्दरि जात हुती अपने कहूँ नातें।
आगे सबै गुरु नारि खरी हँस ये हरि बात कही इक घातें ॥
हाथ उठाय हनी छतियाँ मुसकाय कै जीभ गही पुनि दाँतें।
बैनन में कह्यो ए जगदीस, कि सैनन में कही जाहु इहाँ तें ॥

इस भाँति इन बारह हावों से अनुभाव में भी अनेक प्रकार के भावों की प्रतिक्रिया हो जाती है।

संचारी भाव

स्थायी रस को पुष्ट करने के लिए जो भाव तरंगों की भाँति संचरित होकर लीन हो जाते हैं, उन्हें रस-सिद्धान्त में संचारी या व्यभिचारी भाव कहा गया है। ये संख्या में तैंतीस होते हैं। उनका विवरण निम्न प्रकार से है :—

१. निर्वेद— कोटिकहू कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारों।

२. ग्लानि— द्विजदेव की सौं अब चूक मत दाँव अरे,
पातकी पपीहा, तू पिया की धुनि गावै ना।

३ शंका— बूझैंगे चवैया तब कैहौं कहा दैया,
इत पारिगो को मैया, मेरी सेज पै कन्हैया को।

४. असूया— जैसे को तैसो मिलै, तबहीं जुरत सनेह।
ज्यों त्रिभंग तन स्याम को, कुटिल कूबरी देह॥

५. श्रम— द्वन्द्व युद्ध देखहु सकल, श्रमित भये अति बीर।

६. मद— धन मद यौवन मद महा, प्रभुता को मद पाय।
तापर मद को मद जिन्हें को तेहि सकै सिखाय॥

७. धृति— साँवरे रंग में हौं मैं रँगी न चढ़ै अब दूसरो रंग री बावरी॥

८. आलस्य— निसि जागी लागी हिये, प्रीति उमंगत प्रात।
उठि न सकत आलस बलित, सहज सलोने गात॥

९ विषाद— अब न धीर धारत बनत, सुरत बिसारी कंत।
पिक पापी पीकन लगे, बगर्यौ बधिक बसंत॥

१०. मति— राम ही राम कहै रसना कस ना तू भजे रस नाम सही को।

११. चिन्ता— चितवत चकित चहूँ दिसि सीता।

१२. मोह— मोहन मोहि रह्यौ कब को कब की वह मोहनी मोहि रही है।

१३. स्वप्न— क्यों करि झूठी मानिये, सखि सपने की बात।
जु हरि हर्यो सोवत हियो, सो न पाइयत प्रात॥

१४. विबोध— आँखें अधखुली, अधखुली खिरकी है खुली,
अधखुले आनन पै अधखुली अलकें॥

१५. स्मृति— नैननि में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करें॥

१६. अमर्ष— ये रे दगादार मेरे पातक अपार तोहि
गंगा के कछार में पछार छार करि हौं॥

१७. गर्व घूँघट उघारि एकै मुख देखि देखि रहैं
एकै लगी नापन बड़ाई अँखियान की॥

१८. उत्सुकता— सजे विभूषण वसन सब, सुप्रिय मिलन की हौंस।
सह्यो परत नहिं कैस हूँ, रह्यो अध घरी द्यौस॥

१९. अवहित्थ
(गोपन)— को कहतो यह मेरी दसा गहतो न गुविन्द तो मैं बहि जाती ॥
२०. दीनता— ल्याई न तू कबहूँ बनमाल गोपाल की वा पहिरी पहिराई ॥
२१. हर्ष— तुमहिं विलोकि विलोकिये उर में मुद न समात।
आँगी में न समात उर, उर में मुद न समात ॥
२२. व्रीड़ा— नेक तो देखन दे मुखचन्द सो चन्द्रमुखी मत घूँघट घालै ॥
२३. उग्रता— कहा कहौं सखि काम को, हिय निरदैपन आज।
तन जारत पारत विपति, अपति उजारत लाज ॥
२४. निद्रा— किन्नरी नरी है कै छरी है छबिदार परी
टूटि सी परी है कै परी है परयंक पर ॥
२५. व्याधि— वाके तन ताप की कहौं मैं कहा बात
मेरे गातहि छुवो तो तुम्हैं ताप चढ़ि आवैगी ॥
२६. मरण— सोहत श्री रघुराज के काज पै जीव तजे तो जटायु की नाँई।
२७. अपस्मार
(रोग)— नैन गये फिर फैन बहै मुख चैन रह्यो नहिं मैन के मारे ॥
२८. आवेग— तान लगे लटकी रही न सुधि घूँघट की
घाट की न औघट की बाट की न घट की ॥
२९. त्रास— माखन चोरी कै खोरिन ह्वै चले भाजि कछू भय मानि जिये मैं।
दूरि हू दौरि दुर्‌यो जो चहौ तौ दुरौ किन मेरे अँधेरे हिये मैं ॥
३०. उन्माद— छिन रोवति छिन हँसि उठति, छिन बोलति छिन मौन।
छिन छिन पर छीनी परति, भई दसा धौं कौन।
३१. जड़ता— हलै दुहूँ न चलै दुहूँ, दुहूँ बिसरिगे गेह।
इकटक दुहूँनि दुहूँ लखैं अटकि अटपटे नेह।
३२. चपलता— चकरी लौं सकरी गलिन छिन आवत छिन जात।
परी प्रेम के फंद में वधू बितावत रात ॥
झाँकति ही खिरकी में फिरै थिरकी थिरकी खिरकी खिरकी में।
३३. वितर्क— तुमही सिखावो सीख सुनहु सुजान पिय,
(संदेह)— तुमहीं चलत मोहिं जैसी कछू कहनै ॥

स्थायी भाव को अनुभूति से सम्बलित करने में संचारी भावों की उपयोगिता समझी गई है। जिस प्रकार मयूर-पक्ष की चित्र-विचित्र कान्ति में विविध रंगों की

रेखाएँ उभर कर उसे रूपराशि की अभिनव कलात्मकता प्रदान करती हैं, उसी प्रकार स्थायी भाव की सुषमा को उसकी विविध पार्श्वी सम्पन्नता प्रदान करने के लिए संचारी भावों की रम्यता अपेक्षित है। नदी के प्रवाह की शोभा उसकी तरंगों में है। इसी प्रकार मन में किसी प्रमुख विचार के उत्पन्न होते ही उसके पार्श्ववर्ती संदर्भ में हलचल होती है और अनेक छोटे-मोटे विचार प्रस्फुटित हो उठते हैं। इन छोटे-मोटे विचारों के मंडल में ही स्थायी भाव अपनी महत्ता में प्रतिष्ठापित होता है। सूर्य विम्ब की भाँति स्थायी भाव सभी दिशाओं में अपनी किरणें प्रक्षेपित करता है। इसी भाँति संचारी भाव भी सुख, दुःख या सुख-दुःख-निरपेक्ष दिशाओं में संचरित होता है। सामान्य रूप से यदि संचारियों का इस दृष्टिकोण से विश्लेषण किया जाय तो वह निम्न प्रकार से होगा—

संचारी भाव

सुख सापेक्ष	**दुःख सापेक्ष**	**सुख-दुःख सापेक्ष**
१. मद	१५. ग्लानि	३०. निर्वेद
२. घृति	१६. शंका	३१. असूया
३. आलस्य	१७. विषाद	३२. श्रम
४. मति	१८. चिन्ता	३३. वितर्क
५. मोह	१९. स्वप्न	
६. विबोध	२०. स्मृति	
७. गर्व	२१. अमर्ष	
८. उत्सुकता	२२. दीनता	
९. अवहित्थ	२३. उग्रता	
१०. हर्ष	२४. व्याधि	
११. व्रीड़ा	२५. मरण	
१२. निद्रा	२६. अपस्मार	
१३. आवेग	२७. त्रास	
१४. चपलता	२८. उन्माद	
	२९. जड़ता	

संचारी भावों का सम्बन्ध मनोविज्ञान से है। मानव का हृदय गति की इतनी संभावनाओं से सम्पन्न है कि उसके द्वारा दुःख-सुख की न जाने कितनी छायायें निर्मित हो सकती हैं, जो उपर्युक्त संचारी भावों की परिधियों से बाहर निकल आती हैं। महाकवि सूरदास ने ही 'भ्रमरगीत' में गोपिकाओं के हृदय में विषाद, अवसाद, परिताप, अनुताप और संताप की इतनी भंगिमाएँ उपस्थित की

हैं कि वे १५ से लेकर २६ तक की दुःख-सापेक्ष संचारी को मनोदशाओं में परिगणित की ही नहीं जा सकतीं। ये संचारी भाव गोपिकाओं की गहरी मनोदशाओं का आकलन करने में न जाने कितने ओछे पड़ जाते हैं। मन व्यक्ति-परक होता है और जिस प्रकार व्यक्तियों के असंख्य प्रकार हैं, प्रत्येक का मानस-संस्कार स्वतंत्र है, उसी भाँति मन की भंगिमाएँ स्वतंत्र और असंख्य हैं। किस घटना की प्रक्रिया से मन के चेतन और अवचेतन धरातल पर कितनी प्रतिक्रियाएँ होती हैं, इसे किसी गणित से प्रतिफलित नहीं किया जा सकता। मन का रहस्य प्रज्ञात्मक है। अतः संचारी भावों की संख्या निर्धारित करना वैसा ही है जैसा किसी पुष्प की सुगन्धि को चित्र द्वारा अंकित करने का प्रयत्न करना। जैसे हम मूर्ति को ब्रह्म का प्रतीक समझते हैं, उसी प्रकार हम तैंतीस संचारियों को स्थायीभाव को समृद्ध करने वाली चित्त-वृत्तियों का प्रतीक मानते हैं।

इस भाँति रस की निष्पत्ति स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से उत्पन्न आनन्दानुभूति में ही सिद्ध होती है। इस पर तो अनेक प्रकार की विवेचनाएँ हुई हैं किन्तु मेरी दृष्टि से एक प्रसंग अपूर्ण है जिस पर गम्भीर विचार करने की आवश्यकता है।

मानव का हृदय किन परिस्थितियों में कितना संवेदनशील हो सकता है, इसका निर्धारण करना दुष्कर है। फिर जो परिस्थितियाँ किसी एक व्यक्ति को उल्लासमय ज्ञात होती है, ठीक वे ही परिस्थितियाँ किसी अन्य व्यक्ति के लिए यंत्रणामय हो सकती हैं। इस उल्लास और यंत्रणा के बीच असंख्य परिस्थितियाँ हो सकती हैं, जो न्यूनाधिक मात्रा में सुख और दुःख की अनेक भाव-संधियों में विद्युत् गति से परिचालित होती हैं। यदि स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के बीच किसी ऐसी भाव-संधि ने स्थान ले लिया तो रस-निष्पत्ति के विधायक सभी भावों के संयोग होने पर भी रस-निष्पत्ति हो सकेगी, यह कैसे कहा जा सकता है ?

एक उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट किया जा सकता है। नायक और नायिका हैं। उन दोनों के हृदय में मिलाप-रति की भावना स्थायी रूप से वर्तमान है। चाँदनी रात है, शीतल मंद सुगंध समीरण प्रवाहित हो रही है वासंती वातावरण है। इस मिलाप के कारण नायक में स्वेद, रोमांच और स्वर-भंग है तथा नायिका में किलकिंचित, ललित और मोट्टायित हावों के रूप में अनुभाव है। साथ ही आवेग, उत्सुकता, धृति और मति जैसे संचारी भाव हैं। इन समस्त भावों के संयोग की स्थिति है किन्तु यदि नायक या नायिका में उद्‌भाव (mood) नहीं है तो क्या समस्त उपकरणों के संयोग की स्थिति के होते हुए भी रस की निष्पत्ति हो सकेगी ? स्थायी भाव रति ही है किन्तु मन के बीच कहीं किसी कोने में कोई कसक छिपी हुई है ! नायक किसी निरीह नायिका से निष्ठुरता कर यहाँ दूसरी नायिका

के पास आया है। स्मृति-पटल पर उस निरीह नायिका का अश्रु-पूरित मुख कभी-कभी उभर आता है और स्थायी रस के प्रेमाकाश में कोई विद्युत-सी तड़प उठती है। उसके हृदय में स्थायीभाव (प्रेमानुरक्ति) तो है किन्तु जैसे स्थायी भाव के अंतराल में किसी अवसाद की अस्पष्ट रेखा है। ऐसी स्थिति में क्या रस की निष्पत्ति सम्भव है ? इससे मिलती-जुलती स्थिति का संकेत तुलसी के मानस में इंगित किया गया है :—

संपति चकई भरत चक, मुनि आयसु खिलवार।
तेहि निसि आश्रम पींजरा, राखे भा भिनुसार॥

चकई और चक नायिका और नायक के प्रतीक हैं खिलवार उद्दीपन के अन्तर्गत सखा या सखी और पींजरा मिलन-स्थल या संकेत-स्थान है किन्तु रस-निष्पत्ति नहीं हुई और प्रातःकाल अर्थात् मिलन की अवधि समाप्त हो गई। इसका कारण यह था कि भरत के मन में श्रीरामचन्द्र के चरण देखने की कामना प्रमुख हो गई थी।

उद्भाव

इस भाँति यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का संयोग ही रस-निष्पत्ति के लिए पर्याप्त नहीं है। उपर्युक्त भावों के साथ जब तक उद्भाव अर्थात् रस में प्रवृत्त होने की उमंग नहीं होगी, भावों में प्रवृत्त होने की मनोदशा नहीं होगी, तब तक स्थायी भाव पूर्ण नहीं कहा जा सकेगा। प्राचीन आचार्यों ने रस-निष्पत्ति में उद्भाव की कल्पना नहीं की अथवा स्थायीभाव में उसका अन्तर्भाव करने का संकेत नहीं किया। सम्भव है, आधुनिक युग की विषमताओं एवं तज्जनित मानसिक उद्वेग एवं अशान्ति की कल्पना वे न कर सके हों। उन्हें स्वप्न में भी यह आभास न हुआ होगा कि हमारा मन कभी ऐसा भी होगा जिसमें अहर्निशि अस्थिरता एवं अशान्ति का वात्याचक्र चलता रहेगा और हम दत्तचित्त होकर सम्पूर्ण मन से स्थायी भाव में निमज्जित होने में असमर्थ होंगे। अतः रस-निष्पत्ति का सूत्र इस प्रकार होना चाहिए—**विभावानुभाव, उद्भाव व्यभिचारि भाव, संयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।**

शृंगार रस के भेद

हमारे आचार्यों ने शृंगार के दो भेद किये हैं। प्रथम है संयोग शृंगार और दूसरा है—वियोग का विप्रलंभ शृंगार। संयोग शृंगार नायक-नायिका के पारस्परिक मिलन से ही प्राप्त होता है। उदाहरण है :—

छूट्यो गृह काज लोक-लाज मन मोहिनी को,
भूल्यो मनमोहन को मुरली बजायबो।

देखो, दिन द्वै में रसखान बात फैलि जैहै,
सजनी कहाँ लौं चन्द हाथन दुरायबो ।।
कालहू कलिन्दी तीर चितये अचानक ही,
दोउन की ओर दोऊ मुरि मुसकायबो ।
दोऊ परैं पैयाँ, दोऊ लेत हैं बलैयाँ,
उन्हें भूलि गई गैयाँ, इन्हें गागरि उठायबो ।।

वियोग श्रृंगार में प्रेमी और प्रेमिका में वियोग हो जाता है, उसकी अनुभूति को ही विप्रलंभ श्रृंगार कहते हैं :—

सुभ शीतल मन्द सुगन्ध समीर कछू छल छन्द से छ्वै गये हैं ।
पदमाकर चाँदनी चन्दहू के कछु औरहि डौरन च्वै गये हैं ।।
मनमोहन सों बिछुरे इतही बनिके न अबै दिन द्वै गये हैं ।
सखि वे हम वे तुम वेई बने पै कछू के कछू मन ह्वै गये हैं ।।

यह विप्रलंभ श्रृंगार तीन प्रकार का है—पूर्वानुराग, मान और प्रवास ।

पूर्वानुराग—मिलने के पहले ही मन में प्रेम का आविर्भाव हो :—

ज्यों ज्यों बरसत घोर घन घन घमण्ड गरुवाइ ।
त्यों त्यों परति प्रचण्ड अति, नई लगन की लाइ ।।

यह पूर्वानुराग चार प्रकार से उत्पन्न होता है—श्रवण-दर्शन, चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन और प्रत्यक्ष-दर्शन द्वारा । प्रत्येक के उदाहरण देखिए :—

श्रवण-दर्शन

राधिका सों कहि आई जु तू सखि, साँवरे की मृदु मूरति जैसी ।
ता छिन तें पदमाकर ताहि सुहात कछू न बिसूरति वैसी ।।
मानहुँ नीर भरी घन की घटा, आँखिन में रही आनि उनै सी ।
ऐसी भई सुनि कान्ह कथा जु बिलोकहिगी तब होइगी कैसी ।।

चित्र-दर्शन

मूरति मोहनी मोहन की लिखि धारी जहाँ सखियान की भीरैं ।
बेनी प्रवीन विलोकति राधिका, चित्र लिखी सी भई तेहि तीरैं ।
जोरी किसोरी किसोर की रीझि, सराहि रही हैं गुवालि गँभीरें ।
चित्त चितेरी रही चकि सी जकि एक तै ह्वै गई द्वै तसवीरें ।।

स्वप्न-दर्शन

सोवत आजु सखी अपने द्विजदेव जू आय मिले बनमाली ।
जौ लौं उठी मिलिबे कहँ धाय सोहाय भुजान भुजान पै घाली ।।

बोलि उठेईं पपीगन तौ लगि पीव कहाँ कहि कूर कुचाली।
सम्पति सी सपने की भई मिलिबो ब्रजराज को आज को आली॥

प्रत्यक्ष-दर्शन

आई भले हौं चैली सखियान में पाइ गोविन्द के रूप की झाँकी।
त्यों पदमाकर हार दियो गृहकाज कहाँ अरु लाज कहाँ की॥
है नख तें सिख लौं मृदु माधुरी, बाँकी ये भौंहें बिलोकनि बाँकी।
आजु की या छबि देखि भटू अब देखिबे को न रह्यो कछु बाँकी॥

मान के भी तीन प्रकार हैं :—लघुमान, मध्यमान, गुरुमान।

लघुमान—परस्त्री-दर्शन-जनित मान

काहू पै चलाइ चख, प्रथम रिझावें फेरिं,
बाँसुरी बजाइ कै रिझाइ लेत राधा को।

मध्यमान—परस्त्री-प्रशंसा-जनित मान

आजु की घरी तें जैसे भूलि हौ भले ही श्याम,
ललिता को लैके नाम बाँसुरी बजैये जिन।

गुरुमान—परस्त्री-आसक्ति मान

ऐरी मृगनैनी तेरी पाइ लगी बेनी पाइ
पाइ लगि तेरे फेर पाइ लागियतु हैं॥

प्रवास में प्रिय का प्रवास संताप का हेतु बनता है। इसके दौ प्रकार हैं—भूत-प्रवास और भविष्य प्रवास।

भूत प्रवास

कान्ह पगे कुबजा के कलोलनि डोलनि छोड़ दई हर भाँती।
माधुरी मूरति देखे बिना पदमाकर लागे न भूमि सोहाती।
का कहिये उनसों सजनी, यह बात है आपने भाग समाती।
दोष बसन्त को दीजै कहा, उलहै न करील की डारन पाती॥

भविष्य प्रवास

रमन गमन सुनि ससि मुखी भई दिवस को चन्द।
परखि प्रेमपूरण प्रगट, निरखि रहे नँदनन्द॥

इस वियोग शृंगार में एकादश दशाओं की क्रमशः गुरुता इंगित की गई है। इन दशाओं में किस प्रकार वियोगजनित मनोभावों में स्थायी भाव की अधिकाधिक गहराई व्यक्त होती है, यही दृष्टव्य है। ये ग्यारह दशाएँ निम्न प्रकार से हैं :—

अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्छा और मरण। प्रत्येक का उदाहरण देखिए :—

१. अभिलाषा— इन्दु ते अधिक अरविन्द ते अधिक,
ऐसो आनन गोविन्द को निहारबोई करिये।

२. चिन्ता— ए विधि जो बिरहागि के बान तें मारत हौ तौ यहै वर माँगौं।
जो पसु होऊँ तऊ मरि कैसेहुँ पाँवरी ह्वै प्रभु के पग लागौं।
'दास' पखेरुन में करौ मोर, जु नन्दकिसोर प्रभा अनुरागौं।
भूषण कीजिए तौ बनमालहिं जातें गोपालहिं के हिय लागौं॥

३. स्मरण— सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मन्द समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर॥

४. गुण-कथन—गुणवारे गोपाल के करि गुणगणनि बखान।
इक अवधिहि के आसरे, राखति राधे प्रान॥

५. उद्वेग— राति ना सुहात ना सुहात परभात आली,
जब मन लागि जात काहू निरमोही सौं॥

६. प्रलाप— निरखत घन घनस्याम कहि, भेटन उठति जु वाम।
विकल बीच ही करत जनु करि कमनैती काम॥

७. उन्माद— छिन रोवति छिन हँसि उठति, छिन बोलति छिन मौन।
छिन छिन पर छीनी परति भई दसा धौं कौन॥

८. व्याधि— कब की अजब अजार में परी वाम तन छाम।
तित कोऊ मत लीजियो, चन्द्रोदय को नाम॥

९. जड़ता— कौंल से पानी कपोल धरे, दृग द्वार लौं नीर भरै हिय हारे।
चित्र चरित्र मई सी भई गई लीन ह्वै दीन टरे नहिं टारे।
रावरी लागी ममारख दीठ न जात कही हम जाति पुकारे।
जागि है जीहैं तौ जीहैं सबै न तो पीहैं हलाहल नन्द के द्वारे॥

१०. मूर्छा— ए हो नन्दलाल, ऐसी ब्याकुल परी है बाल,
हाल ही चलौ तो चलौ जोरी जुर जायगी।
कहै पदमाकर नहीं तो ये झकोरे लागे,
और लौं अचाका बिनु घोर घुरि जायगी।
सीरे उपचारन घनेरे घन सारन को,
देखत ही देखत दामिनी लौं दुरि जायगी।

तौही लग चैन जौलौं चेती है न चन्द्रमुखी,
चैतेगी कहूँ तौ चाँदनी में चुरि जायगी ॥

११. मरण— **इन अँखियान को न चैन सपने हूँ मिल्यो,**
ताते अति व्याकुल विकल अकुलायँगी ।
प्यारे हरिचन्द जू की बीती जान औधि प्रान
चाहत चल्यो पै एतो संग न समायँगी ।
देख्यो एक बार ही न नैन भरि तोहि यापै,
जौन जौन देस जैहैं तहाँ पछितायँगी ।
बिना प्राणप्यारे भये दरस तिहारे हाय,
मरे हू पै आँखि ये खुली ही रहि जायँगी ॥

इस भाँति वियोग की एकादश दशाएँ क्रमशः अपने मानसिक उत्कर्ष में करुणा की सीमा के समीप तक पहुँच जाती हैं। मूर्छा के उपरान्त जब नायिका को चेतना आती है और उस समय नायक के दर्शन नहीं होते तो मरण-निवेदन ही शेष रह जाता है। उसके समाप्त होते ही सारा वियोग श्रृंगार (रति की आशा की क्षीण रेखा मिट जाने के उपरान्त) करुण रस में परिणत हो जाता है। वियोग श्रृंगार की मरण अवस्था में स्थायी भाव रति वस्तुतः करुण रस के स्थायी भाव शोक की छाया से धूमिल होने लगती है।

'उपचित' शब्द को लेकर आचार्य शंकुक ने एक शंका उठाई थी। उनका कथन था कि उपचित होना तो परिपक्वता की अंतिम सीमा है। किन्तु वियोग श्रृंगार के अंतर्गत एकादश दशाओं में स्थायी भाव अग्रसर होकर ही उपचित अवस्था में रस-निष्पत्ति तक पहुँचता है। ऐसी परिस्थिति में अंतिम दशा मरण के पूर्व की दशाएँ क्या रस की अधिकारिणी नहीं हैं? अतः जब तक भट्ट लोल्लट उपचितावस्था की क्रमशः सीमाएँ निर्धारित नहीं करते तब तक स्थायी भाव रसोद्रेक करने में किस प्रकार सफल हो सकता है?

किन्तु मेरी दृष्टि में वियोग की एकादश दशाओं में प्रत्येक दशा अपनी भावपरिधि में 'उपचित' हो जाती है और वियोग श्रृंगार अपनी ग्यारह मनोदशाओं में विरह के विविध रूप इस प्रकार उपस्थित करता है कि उसके द्वारा सहज ही रस-निष्पत्ति हो सके।

एक नवीन रस 'उद्वेग रस'

इस सन्दर्भ में मैं काव्य-शास्त्र में एक और रस जोड़ना चाहता हूँ। वियोग की एकादश दशाओं में एक दशा उद्वेग की है। उद्वेग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वियोग में मनुष्य इस प्रकार विकल होता है कि उसका चित्त किसी भी स्थान

या किसी भी विषय में स्थिर नहीं होता। मन किसी नट के द्वारा उछाली हुई गेंद की भाँति नीचे-ऊपर जाता है। किसी एक स्थान पर स्थित नहीं रहता।

अध ऊरध आवत जात भयो चित नागरी को नट कैसो बटा।

वियोग शृंगार में तो यह उद्वेग एक दशा मात्र है, किन्तु आज के अव्यवस्थित और अनिश्चित जीवन में उद्वेग स्थायी रूप से हमारे जीवन में समा गया है। पश्चिम के सम्पर्क से हमारा दृष्टिकोण दिनोंदिन आध्यात्मिक क्षेत्र से हट कर वस्तु-क्षेत्र में केन्द्रीभूत होता जा रहा है। हम निरीश्वरवादी होते जा रहे हैं और आर्थिक एवं राजनीतिक स्वार्थ हमारे प्रतिदिन की समस्याओं के समाधान बन रहे हैं। किसी का गला काट कर यदि हमारे वस्त्र लाल रेशम के बन जाते हैं तो हमारी पैशाचिक हँसी हमारे अभिनन्दन की भूमिका बन जाती है। अपने सिद्धान्तों में हम पश्चिम का पालिश देते हुए फ्रायड की दृष्टि से पवित्र मातृत्व में कामुकता की अनुवृत्ति के दर्शन करते है। हमारी साधना का मूल्यांकन आज काग़ज़ी रुपयों और पैसों में होता है। हम अपनी सुविधाओं के इन्द्रजाल में सीप को भी रजत का महत्व देने लगे हैं। इन सब प्रयत्नों का फल यह हुआ है कि हमारे शरीर की एक-एक इन्द्रिय उभर कर हमारे अंतःकरण पर छा गई है और हम शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध को प्राप्त करने के लिए क्रमशः एक-एक इन्द्रिय-प्रधान कुरंग (शब्द), कुंजर (स्पर्श), शलभ (रूप), मीन (रस) और भ्रमर (गन्ध) को अपनी इन्द्रियों में समेट कर पाँचों विषयों के अधिकारी बन गए हैं। वासना ही हमारी सेज है और अतृप्ति ही हमारी अंकशायिनी है। वस्तुवाद में लिप्सा की कोई सीमा नहीं है। असंतोष का कोई अन्त नहीं है। ऐसी स्थिति में शान्ति कहाँ है? हम रेशमी शैया पर सो कर भी एक क्षण की नींद नहीं पाते। अधिकारी बन कर सेवक की भाँति अकिंचन हैं। वैभव के समस्त साधनों में हम अपनी पुत्री के विवाह के लिए चिन्तित हैं। अपने बच्चे के दुश्चरित्र होने से लांछित हैं, भाई की नौकरी के लिए अशान्त हैं। किसी के पास संतान अधिक है तो वह उदर-पोषण की कठिनाई से अपना भाग्य कोसता है, किसी के पास धन अधिक है तो सन्तान नहीं है, जिसके पास धन और सन्तान हैं तो स्त्री नहीं है और जिसके पास ये तीनों हैं वह किसी अविदित आकांक्षा से संत्रस्त है। तात्पर्य यह कि शांति के समस्त साधनों के उपलब्ध होते हुए भी शान्ति नहीं है, सुख के समस्त आयोजन करने के उपरान्त भी हम सुखी नहीं हैं, क्योंकि हम वस्तुवाद के समर्थक हैं, पुजारी हैं।

ऐसी स्थिति में चिन्ता और अस्थिरता की रेखा हमें बेध कर बैठी है जैसे हमारे सुख चाहने वाले मन के मोती में चिन्ता का एक तार पिरो दिया गया है। जब हमारे साहित्य में रस-सिद्धान्त की कल्पना हुई थी तब संभवतः हमारा जीवन ऐसा नहीं था। हमारा विश्वास ईश्वर की अलौकिक विधान-योजना में था, हमारी

आस्था कर्म के अनिवार्य सिद्धान्त में थी, हम सांसारिक जीवन को उस लीलामय की लीला मात्र समझ कर सुख और संतोष का अनुभव करते थे। कर्म-कौशल को योग का रूप समझ कर फल की आशा न करते हुए कर्म करते थे। हम उस समय अपने मानसिक धरातल पर सुखी हो कर सुदृढ़ थे। फलस्वरूप आचार्य भरत ने प्रारम्भ में केवल चार ही रस माने थे। श्रृंगार, वीर, भयानक और वीभत्स। अर्थात् हमारा जीवन केवल चार भागों में ही विभाजित था। हम जीवन में निश्चिन्त होकर आनन्द का उपभोग करते थे और उसकी सुरक्षा में युद्ध में प्रवृत होकर वीर, रौद्र और बीभत्स की परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकते थे। वीर, रौद्र और वीभत्स एक ही क्रिया के विविध पार्श्व हैं। इन वृत्तियों के विकास में इन क्रिया-कलापों में चार रस और जुड़ गए। श्रृंगार की परिणति में हास्य, वीर की परिणति में अद्‌भुत, रौद्र की परिणति में करुण और वीभत्स की परिणति में भयानक रसों का सूत्रपात हुआ। बाद के आचार्यों ने अध्यात्म के ही उन्मेष में शान्त, वात्सल्य और भक्ति को भी रस की संज्ञा प्रदान की। यहाँ तक समस्त जीवन ग्यारह विभागों में विभाजित हुआ था और अन्तिम तीन विभाग तो हमारे आध्यात्मिक जीवन के प्रतीक ही थे।

आज हमारा जीवन अध्यात्मवाद के बिल्कुल विपरीत चल रहा है और वस्तुवाद के आकर्षण में हम अपने जीवन की समस्त शान्ति ही खो बैठे हैं। हमारे जीवन में कार्य-वैविध्य का जो तनाव (tension) है, उससे हम अपने जीवन का सन्तुलन खो बैठे हैं। आज के आणविक युग में हमारा अस्तित्व ही किसी की दया का वरदान बन गया है। हमारा जीवन ही जैसे आदि से अन्त तक कृत्रिम हो उठा है। आज हमारे जीवन का आलम्बन कोई 'हीरो' या 'हीरोइन' है, उद्दीपन काफ़ी हाउस के प्यालों में है, फ़िल्म के गीतों में है, अनुभाव बेमतलब का मज़ाक़ और हँसी में है, संचारी भाव बम्बई या कलकत्ते की यात्रा की चर्चा है। हम सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करते। जैसे बहुत दूर पर बहते हुए मृगजल की भाँति हमारा जीवन है, दूर से लोगों को हमारे जीवन में जल का आभास तो होता है पर जल का कहीं पता ही नहीं है। किसी अज्ञात आकांक्षा का अधूरापन हमें सदैव ही खटकता रहता है। आज प्रेम, हास, विलास, उत्साह, आश्चर्य, करुणा आदि में भी हम चिन्ता की अन्तर्व्यापिनी रेखा पाते हैं और अशान्ति ही हमारे जीवन का स्थायी भाव बन गया है। इस अशान्ति के स्थायी भाव होने के कारण उद्वेग की निष्पत्ति रस-रूप में स्वतः हो जाती है। मैं साहस के साथ इस उद्वेग को बारहवाँ रस मान कर हिन्दी साहित्य में जोड़ना चाहता हूँ। आज के सामाजिक एवं समस्या-मूलक उपन्यास, नाटक और काव्य में यही रस है। आज हमारा काव्य-साहित्य हमारी कुंठाओं का, अभावों का और हीनता का प्रतिबिम्ब है। उसमें अस्थिरता और अशान्ति है। अतः आज के जीवन और जीवन-साहित्य में अशान्ति ही स्थायी-भाव है और उद्वेग ही एक मात्र रस है।

अब श्रृंगार रस के एक विशिष्ट अंग पर विचार करना है। जिसने रीति काव्य में सौन्दर्य और सुषमा की सृष्टि की। वह है नायक-नायिका भेद। रस के आलम्बन रूप होने के कारण नायक और नायिका के विविध युग्मों ने मध्यकालीन काव्य साहित्य में सौन्दर्य का सागर भर दिया है।

(ख) नायक और नायिका-भेद

जीवन में समस्त रागात्मक प्रक्रियाओं का केन्द्र स्त्री और पुरुष के बीच का मोहक सम्बन्ध है जिसे दाम्पत्य प्रेम कहा गया है। हमारे संतों और अन्तर्दृष्टाओं ने भी आत्मा और परमात्मा के बीच प्रेम का जो प्रतीक उपस्थित किया है वह दाम्पत्य प्रणय ही है जो आगे चलकर परिणय का रूप लेता है। इसी में रहस्यवाद की सृष्टि होती है जिसके द्वारा निर्गुण सम्प्रदाय में 'विरहिन' और सगुण सम्प्रदाय में 'राधा' के असीम और निश्छल प्रेम का नये-नये रूपों में चित्रण हुआ है।

निर्गुण सम्प्रदाय में—

दुलहिनी गावहु मंगलचार।
हम घरि आए राजा राम भतार॥

और सगुण सम्प्रदाय में—

खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।
औचक ही देखी तहँ राधा नैन बिसाल भाल दिए रोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझे, नैन नैन मिलि परी ठगोरी॥

आदि के मर्मस्पर्शी चित्र देखने को मिलते हैं। यही प्रेम की परिपक्व अवस्था है जिसमें आत्म-समर्पण के साथ जीवन की समस्त वासनाओं का उदात्तीकरण हो जाता है।

आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में नायिकाओं की छः कोटियाँ निर्धारित की हैं। व्यवहार कोटि, वियोग-संयोग कोटि, प्रेम कोटि, प्रकृति कोटि, यौवन कोटि और गुण कोटि। इन छः कोटियों में उन्होंने नायिकाओं के पच्चीस रूप निर्धारित किए हैं। इन रूपों में किसी प्राचीन परम्परा का आग्रह प्रतीत नहीं होता, वरन् लोकजीवन में जितनी प्रकार की स्त्रियाँ दृष्टिगत होती हैं, उन्हीं का एकत्रीकरण भरत के नाट्यशास्त्र में किया गया ज्ञात होता है। सम्भव है प्रेम कोटि, प्रकृति कोटि और यौवन कोटि में उन्हें वात्स्यायन के 'कामसूत्र' से प्रेरणा प्राप्त हुई हो।

आचार्य भरत का अनुकरण करने वाले आचार्य रुद्रट थे जिन्होंने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में इस प्रकरण की यथेष्ट समीक्षा और श्रेणी-निर्धारण की पृष्ठभूमि उपस्थित की। अन्य काव्यांगों के साथ नायक-नायिका निरूपण में भोजराज और विश्वनाथ ने भी योगदान दिया।

नायक-नायिका-निरूपण को स्वतंत्र रूप से प्रस्तुत करने का सर्वप्रथम श्रेय भानु मिश्र को है। उन्होंने अपनी 'रस मंजरी' में इस विषय का सम्यक् रूपेण विस्तार किया है। इस नायिका-निरूपण को राधा-कृष्ण से जोड़ने का सर्वप्रथम प्रयास रूप गोस्वामी ने किया। उन्होंने राधा-कृष्ण की उपासना को जो 'माधुर्य' भक्ति का रूप दिया, उससे समस्त नायक-नायिका भेद को कृष्ण और राधा की प्रेम जनित परिस्थितियों में रूपान्तरित होने का सुयोग सहज ही प्राप्त हो गया। ब्रजभाषा के कवियों ने रूप गोस्वामी से प्रेरणा ग्रहण कर समस्त नायक-नायिका भेद में कृष्ण और राधा को प्रतिष्ठित कर दिया। इससे दो लाभ हुए :—

(१) श्रीकृष्ण के लीला-विस्तार और राधा की अनन्य उपासना ने नायक-नायिका के भेद-विस्तार में यथेष्ट सहायता पहुँचाई।

(२) राधा-कृष्ण के आश्रय से उत्तान शृंगार-चित्रण में भी कवियों को भक्ति-भावना का कवच प्राप्त हो गया और वे निर्भीक होकर शृंगार-चित्रण की किसी भी सीमा तक बढ़ गए।

इस पर आगे विचार किया जायगा।

नायक-भेद

नायक-भेद के विचार से इस विषय का विवेचन निम्न प्रकार से हुआ है :—

१. आचार्य भरत

(क) प्राकृतिक आधार

१. उत्तम
२. मध्यम
३. अधम

(ख) शीलपरक आधार

१. धीरोद्धत
२. धीर-ललित
३. धीरोदात्त
४. धीर-प्रशान्त

(ग) प्रेमपरक आधार

१. चतुर
२. उत्तम
३. मध्यम

५. आचार्य भानु मिश्र

(क) प्रेमपरक आधार

१. पति
२. उपपति
३. वैशिक,
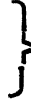
(ख) कलापरक आधार

१. वाक् चतुर
२. चेष्टा चतुर

(ग) प्रोषणपरक आधार

१. प्रोषित पति
२. प्रोषितोपपति
३. प्रोषित वैशिक

६. आचार्य रूप गोस्वामी

(क) शीलपरक आधार

१. धीरोदात्त
२. धीरोद्धत
३. धीरललित
४. धीरप्रशान्त

(ख) प्रेमपरक आधार

१. अनुकूल
२. दक्षिण
३. धृष्ठ
४. शठ

१. पति
२. उपपति

(ग) सीमापरक आधार

१. पूर्ण
२. पूर्णतर
३. पूर्णतम

७. आचार्य अकबर शाह

(क) प्रेमपरक आधार

१. अनुकूल

२. दक्षिण

३. धृष्ठ

४. शठ < प्रच्छन्न / प्रकाश

(ख) प्रोषितपरक आधार

१. प्रोषित

२. अमिलित

३. विरही

(ग) कामपरक आधार

१. भद्र

२. दत्त

३. कुचभार

४. पांचाल

नायक-भेद की विवेचना

उपर्युक्त आचार्यों के मत की समीक्षा करने पर ज्ञात होगा कि आचार्य भरत के शीलपरक, धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त नायकों को लगभग सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है किन्तु इन नायकों की वास्तविक स्थिति दृश्य काव्य में ही है। आचार्य भरत के प्रेमपरक नायकों में आचार्य रुद्रट ने जो संस्कार किया और चतुर, उत्तम, मध्यम, अधम और संप्रवृद्ध इन नायकों के स्थान पर अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट इन चार नायकों की स्थापना की, वह अधिक उपयुक्त समझी गई और काव्य-साहित्य के नायक-भेद में उसकी स्थापना हुई। नायक-भेद का निरूपण आचार्य भानु मिश्र द्वारा सबसे अधिक व्यवस्थित है और ब्रजभाषा के कवियों ने लगभग वही निरूपण स्वीकार कर अपनी प्रतिभा और काव्य-कला से इस प्रकरण के उदाहरण उपस्थित किये हैं। नीचे स्थान-संकोच से इन नायकों के उदाहरण अत्यन्त संक्षेप में दिये जा रहे हैं :—

नायक—(यौवन-सम्पन्न और रसज्ञ पुरुष)

लोचन मीन लसैं पग कूरम कोल धराधर की छबि छाजै।
ए बल मोहन साँवरे राम हैं दुर्जन राजन को हनि काजैं।
हैं बल में बल ध्यान में बुद्ध लखे कलकी विपदा सब भाजैं।
मध्य नृसिंह हैं कान्हजू में सिगरे अवतारन के गुन राजै॥

पति—(परिणय-सम्पन्न)

एरी अरविन्द नैनी पिक बैनी भोरही तें
गोकुल के चन्द को चकोर करि राख्यो तू ।

उपपति—(अन्य नायिका पर आसक्त)

हाय ! वा कसाइन के नेक ना कसक हिय,
चली गई घायल कै पायल बजाइ कै ।।

वैसिक—(वेश्यानुरागी नायक)

वारि विलासिनी ती के जपे अखरा अखरा नखरा नखरा के ।।

अनुकूल—(एक पत्नीव्रत)

मन मोहन तन घन सघन, रमणि राधिका मोर ।
श्री राधा मुख चन्द को, गोकुल चन्द चकोर ।।

दक्षिण—(अनेक पत्नी प्रिय)

बादि छवो रस व्यंजन खाइबो बादि नवो रस मिश्रित गाइबो ।
बादि जराय प्रजंक बिछाइ प्रसून घने परि पाइ लुटाइबो ।।
दास जू बादि जनेस मनेस धनेस फनेस रमेश कहाइबो ।
या जग में सुखदायक एक मयंक मुखीन को अंक लगाइबो ।।

धृष्ट—(लज्जा हीन पुरुष)

गारि दै मारि दै टारत भावति भावतो होत है हार हिये को ।।

शठ—(छलपूर्वक स्वार्थ साधक)

तुम बातें निसीठी कहौ रिस में मिसरी तें मीठी हमें लागती हैं ।।

मानी—(मान करने वाला)

चाहिये वाहि कि मान करै उलटे तुमही अब ठानत मान हौ ।।

चतुर—(कार्य करने में कुशल)

जल-बिहार मिस भीर में, लै डुबकी इक बार ।
दह भीतर मिलि परस्पर दोऊ करत बिहार ।।

कला परक

वाक्-चतुर—(वाणी से कार्य साधक)

आजु लौं जो न मिली तो कहा हम तो तुम्हरे सब भाँति कहावैं ।
मेरो उराहनो है कछु नाहिं सबै फल आपने भाग को पावैं ।
जो हरिचन्द भई सो भई अब प्रान चले चहैं तासों सुनावैं ।
प्यारी जू है जग की यह रीति बिदा के समैं सब कंठ लगावैं ।

क्रिया चतुर—(किसी क्रिया से कार्य-साधक)

आई सुन्योति बुलाइ भली दिन चारिको जाहि गोपाल ही भावै ।
त्यों पदमाकर काहू कह्यो कै चलो बलि बेगिहि सासु बुलावै ।
सो सुनि रोकि सकै क्यों तहाँ गुरु लोगन में यह ब्यौंत बनावै ।
पाहुनी चाहै चल्यों जबहीं तबहीं हरि सामुंहे छींकत आवै ।।

प्रोषण-परक

प्रोषित पति—(प्रियतमा का वियोगी)

हे करतार बिनै सुनो दास की लोकनि को अवतार करौ जनि ।
लोकनि को अवतार करौ तो मनुष्यन को तो सँवार करौ जनि ।
मानुष हूँ को सँवार करौ तो तिन्हें बिच प्रेम प्रसार करौ जनि ।
प्रेम प्रसार करौ तो दयानिधि केहूँ वियोग विचार करौ जनि ।

प्रोषित उपपति—(अन्य स्त्री का वियोगी).

जाहिर जाइ सकै न तहँ, घरहाइन के त्रास ।
परे रहत नित कान्ह के प्रान परोसिन पास ।।

प्रोषित बैसिक—(वेश्या का वियोगी)

तजि बिदेस सजि बैसही, निज निकेत में जाय ।
कब समेटि भुज भेंटवी, भामिनि हिये लगाय ।।

इस भाँति यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि इन नायकों के भेदों में प्रेम-परक आधार ही प्रमुख रहा है जिससे नायक श्रृंगार रस के लिए उपयुक्त आलम्बन बन सके ।

नायिका भेद

श्रृंगार रस के अन्तर्गत नायक-भेद के समानान्तर नायिका-भेद का प्रकरण महत्त्वपूर्ण होने के साथ ही साथ विस्तारपूर्ण भी है । आलम्बन विभाव के रूप में नायक की अपेक्षा नायिका सौन्दर्य, आकर्षण और अनुराग की विधायिका होने के कारण काव्य-साहित्य में अधिक स्थान प्राप्त कर सकी । भारतीय सामाजिक व्यवस्था में पुरुष अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्र होने के कारण उच्छृङ्खल और निष्ठुर बन जाता है और प्रेम की परिधि लाँघ कर अमर्यादित व्यवहार कर सकता है । इसकी प्रतिक्रिया नारी-जीवन पर पड़ती है । वह अधिक दुःखी और संत्रस्त हो जाती है । पुरुष को सीमा में रखने के लिए वह जितना अपना श्रृंगार करती है, उतना ही अनुनय-विनय, त्याग और आत्म-बलिदान का आश्रय ग्रहण करने के लिए बाध्य हो जाती है । परिणाम-स्वरूप स्त्री के श्रृंगार की विविधता और प्रेम के क्षेत्र में अनेक भंगिमाओं के चित्र सहज ही उभर आते हैं ।

इसके साथ ही दाम्पत्य सम्बन्ध में प्रेम की पूर्णता है। इस प्रेम में आत्मा-समर्पण की प्रधानता है और यह आत्म-समर्पण जितना अधिक स्त्री द्वारा होता है, उतना पुरुष द्वारा नहीं, यद्यपि इसके अपवाद भी देखे जा सकते हैं। आत्मा और परमात्मा प्रतीक-रूप से स्त्री और पुरुष हैं और दोनों एक ही सत्ता के दो रूप हैं। अद्वैत-दर्शन में जिस प्रकार माया के निराकरण से जीव और ब्रह्म एक ही हैं, उसी प्रकार प्रेम-दर्शन में स्त्री और पुरुष में भी अभिन्नता है, यदि अनुराग और आत्म-समर्पण की भावना का प्रसार दोनों के बीच में हो। रहस्यवाद के क्षेत्र में विरहणी को ही अधिक आतुर और कष्ट-सहिष्णु चित्रित किया गया है :—

बिरहिन ओदी लाकड़ी सपचै औ धुंधवाय।
छूट परौं या बिरह ते जौ सिगरौ जरि जाय॥

इस प्रकार भारतीय दर्शन और समाज में नारी के मनोभावों की रूप-रश्मि चित्रशाला की भाँति सजी हुई है। समाज के इतिहास में नारी धीरे-धीरे हीनता को प्राप्त होती गई। वैदिक काल में नारी जितनी स्वतंत्र थी, उतनी संस्कृत-काव्य-काल में नहीं और उसके अनन्तर पुराण-काल में नारी और भी विगलित हो गई। इतिहास में जब विदेशियों का आक्रमण इस देश पर हुआ तो नारी परदे के पीछे चली गई यद्यपि उसके सौन्दर्य की कीर्ति परदे के बाहर आकर जन-जन के मानस और मुख को कृतार्थ करती रही। इस नारी के पीछे कितने युद्ध हुए! कितने राज्यों का उत्थान-पतन हुआ! नारी ने अपनी रक्षा के लिए कितनी बार अग्नि-देवता का निमंत्रण स्वीकार किया! जहाँ ऐसा सम्भव नहीं हो सका वहाँ नारी शृंगार की स्वामिनी हुई। वह अनेक अलंकारों से सुसज्जित होकर अन्तःपुर में 'रति की प्रतिकृति' बनी। उससे विलास-कक्ष में प्रकाश फैल गया और वह मनोविनोद और विहार की वसंत-श्री बनी। श्रद्धा-रूपिणी नारी अन्तःकरण का शृंगार न बन कर इन्द्रियों का उपहार बन गई। सुख और विलास की सामग्री में नारी भी एक सामग्री के रूप में सजी। कवि पदमाकर ने उसे कितनी जड़ और विलासोपयुक्त सामग्रियों के साथ सजा कर रख दिया :—

गुलगुली गिलमें हैं गलीचा हैं गुनीजन हैं,
चाँदनी है, चिके हैं, चिरागन की माला हैं।
कहै पदमाकर त्यों गजक गिजा हैं सजी
सेज है, सुराही है, सुरा है और प्याला हैं।
शिशिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हें
जिनके समीप ऐसे उदित मसाला हैं।
तान तुक ताला हैं, विनोद के मसाला हैं,
'सुबाला' हैं, दुशाला हैं, विशाला चित्रशाला हैं॥

सुबाला विनोद का मसाला ही नहीं बनी, चिक और चिराग की माला भी बन गई !

इतिहास में भारतीय नारियों के पतन का विवरण कितना करुण है ! विदेशियों ने भारतीय नारी के सौन्दर्य को अपने अधिकार के पैरों से कुचला है। पद्मिनी के सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब दर्पण में देखकर अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ की चिता प्रज्वलित कराई ! बाजबहादुर की प्रेयसी रूपमती के सौन्दर्य पर ऊधम खाँ पतिंगे की भाँति गिरा और उसने उस सौन्दर्य के दीपक को सदैव के लिए बुझा दिया। यवन शासकों ने अपने अन्तःपुर में नाना जाति की रूपसियों को एकत्र किया। यह परम्परा जो इन यवनों ने चलाई, वह उनके उत्तराधिकारियों द्वारा ही नहीं, सामन्तों, मुसाहिबों और मनसबदारों द्वारा भी पोषित होती रही।

फीरोज़ ख़ाँ तुग़लक़ के वज़ीर मक़बूल ख़ाँ के हरम में दो हज़ार स्त्रियाँ थीं जिनमें गौर ग्रीक सुन्दरियों से लेकर चम्पकीय चीन सुन्दरियाँ तक थीं।[1]

जलालुद्दीन अकबर ने अपनी चचेरी बहिनों रुकय्या और सलीमा से निकाह तो पढ़ाया ही था, अम्बर नरेश राजा बिहारीमल की लड़की से भी विवाह किया। आगे चल कर अकबर ने अन्य स्त्रियों से भी विवाह किये जिनमें हिन्दू, पारसी, मोगल और अरमीनिया की सुन्दरियाँ भी थीं। अबुल फज़ल का कथन है कि अकबर के हरम में पाँच हज़ार स्त्रियाँ थीं जिनके समक्ष सम्राट् अकबर अपनी बुद्धिमत्ता का प्रदर्शन करता था।[2]

जहाँगीर के हरम में तो इतनी स्त्रियाँ थीं कि हरम का प्रतिदिन का व्यय तीस हज़ार रुपया था।

इसी प्रकार हरम या अन्तःपुर में सुन्दरियों के संग्रह करने की एक प्रतापशाली परम्परा राजाओं, नवाबों और सूबेदारों के यहाँ चल पड़ी। हज़ारों प्रकार की सुन्दरियाँ अमूल्य रत्नों के संग्रह की भाँति इन विलासी-जौहरियों की महल-मंजूषाओं में बन्द रहती थीं। रोज इनकी झाड़-पोंछ हो जाती थी और अनेक वर्षों में यदि

---

1. Makbool was a luxurious person, who kept two thousand ladies in his harim—ranging from olive Greeks to saffron Chinesl.

Lanepool, Page 142.

2. Later he took other women. Hindu, Persian, Moghal, and even an Armenian, until his harum formed a Parliament of religions, though no rumour of their probable debates even reached the outside world. Abul-Fazl says there were more than five thousand women, in various capacities, in the harum and sagely reamrks that the large number of women—a vexatious question even for great statesman, furnished his majesty with an opportunity to display his wisdom. *Lanepool*, Page 252.

किसी सुन्दरी-रत्न का भाग्य-नक्षत्र उदित होता था तो वह अपने जौहरी के कर-कमलों में सुशोभित हो जाती थी, अन्यथा सेवकों की सुरक्षा में रेशम और मखमल का अवगुण्ठन लिए सुगंधि और सौकुमार्य के स्वप्न में शयन करती थी। किसी शारदीया ज्योत्स्ना में मिलन का मौन निमंत्रण, प्रतीक्षा के अपलक नेत्रों में इठलाती हुई रजनी का प्रस्थान, निराशा-भरे आलस्य में केलि-मन्दिर के द्वारों का उद्घाटन, शीतल सुवासित फुहारों से परिपूर्ण चंचल और चुलबुले जल के हम्माम में अवतरण, सेविकाओं द्वारा सहानुभूति-पूर्ण खिल-खिलाहट और स्नान-केलि, यही सब तो था। स्नानोपरान्त सुगंधित प्रसाधनों से शृंगार और वस्त्र-धारण, केश-राशि का प्रतिदिन नया विन्यास और दर्पण में अपनी छवि का गुणन-फल आने वाली रात्रि की मिलनोत्सुकता के साथ पुनः प्रारम्भ होता।

हरम या अन्तःपुर में सहस्त्रों स्त्रियों के निवास की व्यवस्था के साथ उनकी संख्या, परिचय, जाति-विशेषता, गुण, कला-नैपुण्य आदि का भी विवरण रहता था। राज-दरबारों में जिस विलासिता का वातावरण रहता था उसमें इन सुन्दरियों के सौभाग्य का संकेत राजाओं या नवाबों की भाव-भंगिमाओं में अवश्य रहता था जो गुणीजनों और कवियों को अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन के अनेक अवसर प्रदान करता था। ओरछा नरेश इन्द्रजीत की राज-सभा की गायिका प्रवीणराय तो महाकवि केशव को काव्य-रचना और काव्य-शिक्षा का आग्रह-पूर्ण निमंत्रण देती थी जिसे आचार्य-कवि सप्रेम स्वीकार करते थे।

नारियों के इस विशाल संग्रह के विवरण को सजीव रखने के लिए यदि कवियों ने रस के अन्तर्गत नायिका-भेद का रुचिपूर्वक विस्तार किया तो इसमें आश्चर्य क्या हो सकता है? हमारे साहित्य में नायिका-भेद की परम्परा भले ही आचार्य भरत के समय से प्रचलित रही हो और परवर्ती आचार्यों ने उसका विस्तार भी किया हो तथापि इस कला-काल में विलासी राजाओं की वासनोन्मुखी स्त्री-संग्रह की प्रतिद्वन्द्विता ने नायिका-भेद के रूप में इस 'सुन्दरी-साहित्य' को प्रोत्साहन दिया हो, तो इसे तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव ही समझना चाहिए। आरम्भ में लोक-जीवन के अन्तर्गत सौन्दर्य-निरूपण और शृंगार-चित्रण की भावना ने तो नायिका-भेद की अवतरणा की ही थी, यदि यह लोक-जीवन राजनीतिक विलासिता और वैभव-पूर्ण जीवन के रस से सींचा गया तो इसमें नायिका-भेद की शाखाओं और प्रशाखाओं के पल्लवित होने की कितनी अधिक संभावना है! काव्य में नायिका-भेद के अतिरिक्त अन्य अंग भी तो हैं, रस के अंतर्गत शृंगार के अतिरिक्त अन्य रस भी हैं, छंदों में कवित्त, सवैया और दोहा के अतिरिक्त अन्य छन्द भी हैं, रीति में अनेक वृत्तियाँ हैं, ध्वनि में अनेक स्फोट हैं, वक्रोक्ति में प्रबन्ध वक्रताएँ तक हैं किन्तु इस काल में उन सभी का विकास समान रूप से क्यों नहीं हुआ? तत्कालीन समय में काव्य के जिन अंगों के विकास के लिए परिस्थितियाँ अनुकूल थीं, वातावरण उत्तेजना-

पूर्ण था, उन्हीं परिस्थितियों में साहित्य के समानुकूल अंगों का विकास हुआ। इस काल में समय के प्रतिकूल जाने वाले कवियों की संख्या अत्यन्त न्यून थी। अतः जिस प्रकार की हवा बही, उसी प्रकार के फूल खिले, जिस दिशा से मेघ उठे, वहीं वर्षा हुई, जिस कोण से बिजली चमकी, उसी कोण में प्रकाश हुआ और जिस दिशा में सूर्य डूबा, वहीं लालिमा फैली। कला-काल किसी वासंती दिन में सूर्य के अस्त होने का मनोरम संध्या-काल है। नायिका-भेद के इतिहास की संक्षिप्त रूप-रेखा इस प्रकार हैं :—

सबसे प्रथम आचार्य भरत ने नायिकाओं के अंतर्गत कुछ विशिष्ट कोटियों का निर्धारण किया है। उनके उपरान्त अन्य आचार्यों ने उनमें यथासम्भव संशोधन एवं विस्तार किये हैं।

१. आचार्य भरत

व्यवहार परक

१. आभ्यान्तरा (वार-वधू)
२. बाह्या (कुल-वधू)
३. बाह्याभ्यान्तरा (जो वार-वधू न रहकर कुल-वधू का आचरण करे।)

वियोग-संयोग परक

१. वासक सज्जा
२. विरहोत्कण्ठिता
३. स्वाधीनपतिका
४. कलहान्तरिता
५. खण्डिता
६. विप्रलब्धा
७. प्रोषित भर्तृका
८. अभिसारिका

प्रेम परक

१. मदनातुरा
२. अनुरक्ता
३. विरक्ता

प्रकृति परक

१. उत्तमा
२. मध्यमा
३. अधमा

यौवन परक

१. प्रथम यौवना
२. द्वितीय यौवना
३. तृतीय यौवना
४. चतुर्थ यौवना

गुण परक

१. दिव्या
२. नृप पत्नी
३. कुल स्त्री
४. गणिका

आचार्य रुद्रट ने नायिका-भेद को प्रेम-परक व्यापार के आधार पर अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से निरूपित किया। वह निरूपण इस प्रकार है :—

२. आचार्य रुद्रट

१. आत्मीया
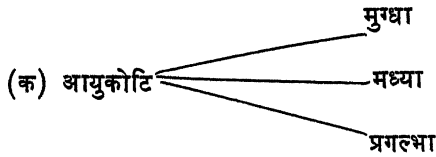
(क१) सम्बन्धपरक

(अ) मध्या < जेष्ठा, कनिष्ठा

(आ) प्रगल्भा < जेष्ठा, कनिष्ठा

(क२) दशा परक
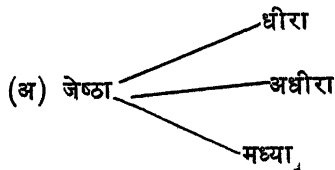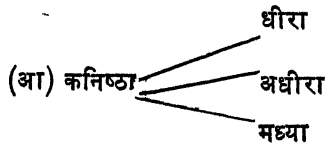
(ख) प्रेमकोटि < स्वाधीन पतिका / प्रोषित पतिका

(ग) भावकोटि < अभिसारिका / खंडिता

२. परकीया

(क) आयु कोटि < कन्या / अनूढ़ा

(ख) भाव कोटि < अभिसारिका / खंडिता

३. वेश्या

(क) भाव कोटि > अभिसारिका / खंडिता

३. आचार्य भोजराज

(क) कथा कोटि

१. नायिका
२. प्रतिनायिका
३. उपनायिका
४. अनुनायिका
५. नायिकाभास

(ख) उपयमन कोटि

१. जेष्ठा
२. कनीयसी

(ग) मान कोटि

१. उद्धता
२. उदात्ता
३. शान्ता
४. ललिता

(घ) वृत्ति कोटि
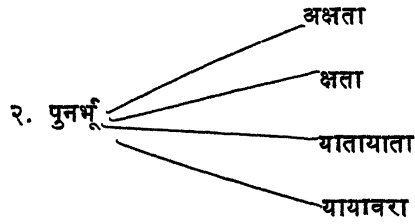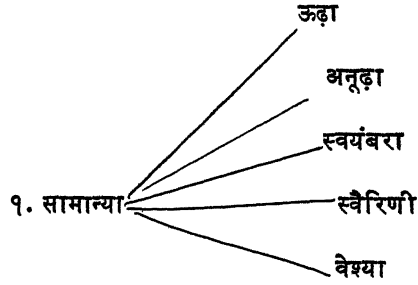
३. स्वैरिणी

(ङ) आजीविका कोटि

१. गणिका
२. रूपजीवा
३. विलासिनी

४. आचार्य भानु मिश्र

१. स्वीया

(क) अवस्था परक

१. मुग्धा
२. मध्या
३. प्रगल्भा

(क$_1$) आयुकोटि (मध्या)

१. अज्ञात यौवना
२. ज्ञात यौवना

(क$_2$) विश्रब्ध कोटि

१. नवोढ़ा
२. विश्रब्ध नवोढ़ा

(क$_3$) आयुकोटि (प्रगल्भा)

१. रति प्रीतिमती
२. आनन्द संमोहवती

(ख) मान परक

(मध्या)

१. धीरा < जेष्ठा / कनिष्ठा
२. अधीरा < जेष्ठा / कनिष्ठा
३. धीराधीरा < जेष्ठा / कनिष्ठा

(प्रगल्भा)

१. धीरा < जेष्ठा / कनिष्ठा
२. अधीरा < जेष्ठा / कनिष्ठा
३. धीराधीरा < जेष्ठा / कनिष्ठा

} प्रेम परक

२. परकीया

(क) अवस्था परक

१. प्रौढ़ा
२. कन्यका

(ख) भाव परक

१. गुप्ता
२. विदग्धा
३. लक्षिता
४. कुलटा

५. अनुशयाना

६. मुदिता

३. सामान्या

(कोई भेदोपभेद नहीं।)

५. आचार्य रूप गोस्वामी

(समस्त परम्परागत नायिका-भेद की स्वीकृति तथा—

साधना परक

१. हरिप्रिया

२. वृन्दावनेश्वरी

३. यूथेश्वरी

६. आचार्य अकबर शाह

१. मध्या नायिका

१. प्रच्छन्न

२. प्रकाश

२. प्रगल्भा नायिका

१. परकीया

२. सामान्या

३. प्रौढ़ा नायिका

४. सामान्या नायिका

१. स्वतंत्रा

२. अनन्याधीना

३. नियमिता
४. क्लप्तानुरागा
५. कल्पितानुरागा

५. अवस्थानुसार नायिका

१. वासक सज्जा
२. विरहोत्कंठिता
३. स्वाधीन पतिका
४. कलहान्तरिता
५. खण्डिता
६. विप्रलब्धा
७. प्रोषित भर्तृका
८. अभिसारिका
९. वक्रोक्ति गर्विता

काम परक नायिका

१. पद्मिनी
२. चित्रिणी
३. शंखिनी
४. हस्तिनी

उपर्युक्त निरूपण से यह ज्ञात होता है कि आचार्यों का अधिक अनुराग स्वीया के विविध भेदों के चित्रण में ही था। आचार्य रुद्रट और आचार्य भानु मिश्र ने नारी के स्वीया भेद ही में वास्तविक स्त्रियों के मनोविज्ञान की प्रतिष्ठा की है। जो स्वीया और आत्मीया है, वही वास्तविक प्रेम की अधिकारिणी है। परकीया और सामान्या (वेश्या) में मिलन और विरह का केवल प्रदर्शन मात्र हैं। वे कागज की प्रस्फुटित कलियाँ हैं जिनमें सुगन्धि नहीं है, केवल रूप-रंग का भड़कीला आडम्बर है।

आचार्यों ने विविध अवस्थाओं, मनोदशाओं और परिस्थितियों के अनुसार नायिकाओं की संख्या को गुणन-फल से बहुत अधिक बढ़ाने की चेष्टा की है। आचार्य रुद्रट के समय से ही यह मनोवृत्ति अधिकाधिक बढ़ती रही। हिन्दी के कवियों ने भी इन्हीं आचार्यों का अनुकरण किया है। कवि रसलीन ने नायिकाओं के १३५२ भेद माने। चिरजीवी कवि ने ३२४०, सरदार कवि ने ६२५२ और श्री भानु कवि ने इस नायिका-भेद में प्रस्तार घटित कर ४७८८ भेद माने हैं। सामान्य रूप से आचार्यों द्वारा निर्धारित नायक और नायिका की संख्याओं का रेखा-चित्र सामने के पृष्ठ पर है।

धर्म परक

१ स्वकीया
जेष्ठा
कनिष्ठा
२ परकीया
ऊढ़ा
अनूढ़ा
मुदिता
अनुशयाना,
कुलटा,
लक्षिता,
विदग्धा,
गुप्ता,
वर्तमान,
भावी,
भूत,
वचन-विदग्धा
क्रिया-विदग्धा
भूत सुरति गोपना
वर्तमान सुरति गोपना
भविष्य सुरति गोपना
मुदिता
अनुशयाना,
कुलटा,
लक्षिता,
विदग्धा,
गुप्ता,
३ सामान्या
जननी आधीना,
स्वतंत्रा
अवस्था परक
नवोढ़ा
विश्रब्ध नवोढ़ा
१. मुग्धा
ज्ञात यौवना
अज्ञात यौवना
धीरा
२. मुग्धा
अधीरा
धीराधीरा
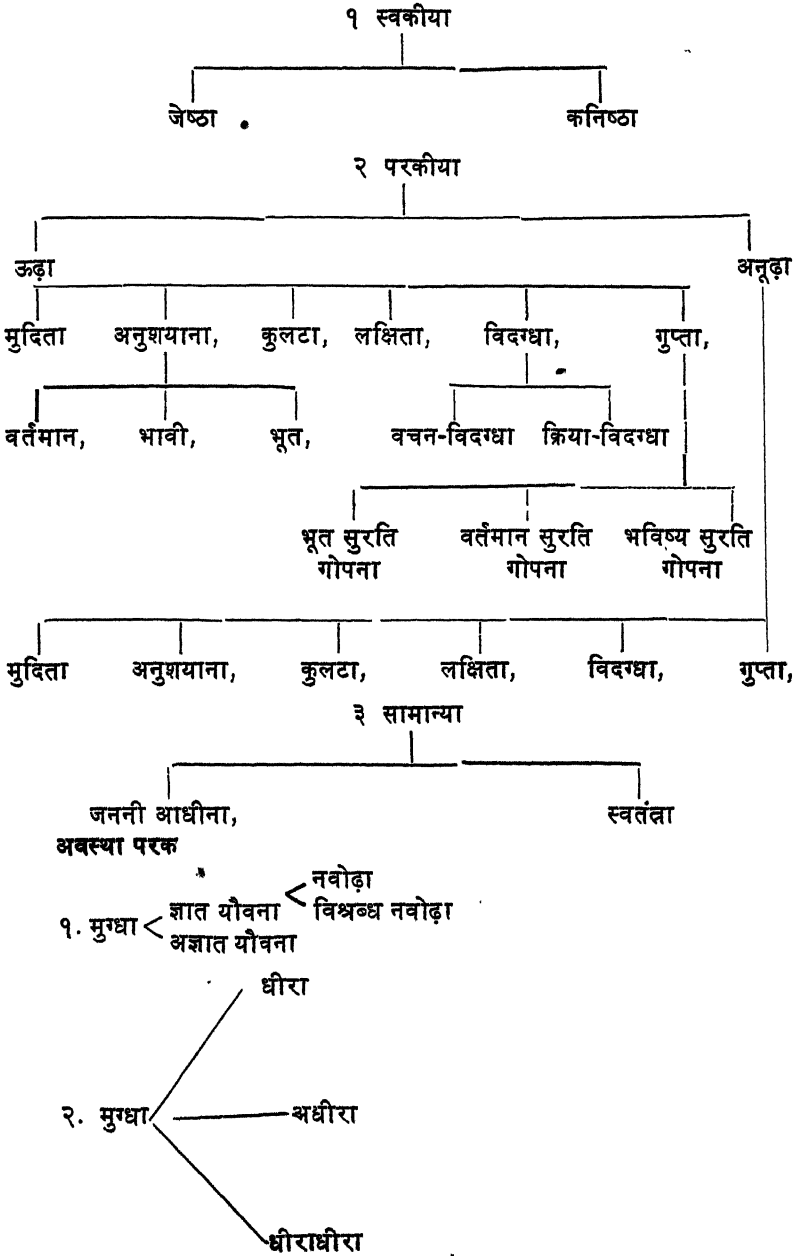
रीति काव्य-साहित्य में संस्कृत के आचार्यों द्वारा प्रस्तुत नायिका-भेद का ही मूलतः अनुसरण किया गया है। उदाहरणों के उपस्थित करने में कवियों ने जिस प्रतिभा का प्रदर्शन किया है वह एक ओर तो देश-काल की निर्देशिका है, दूसरी ओर ब्रजभाषा के कवियों की मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि की परिचायिका। हिन्दी में कवियों ने निम्न प्रकार से नायिका-भेद के आधार निर्धारित किये हैं :—

प्रकृति परक

१. उत्तमा
२. मध्यमा
३. अधमा

स्वभाव परक

१. अन्य सुरत दुःखिता
२. मानवती
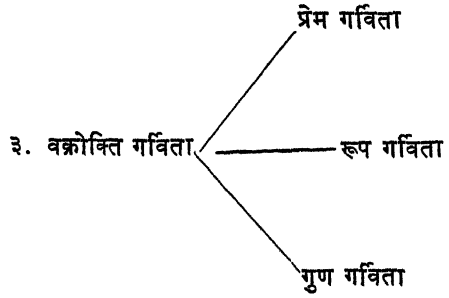
३. प्रौढ़ा — रतिप्रीता / आनन्द सम्मोहिता

[दशा-भेद (प्रत्येक के दस) १ प्रोषित् पतिका, २ खण्डिता, ३ कलहान्त-रिता, ४ विप्रलब्धा, ५ उत्कंठिता, ६ वासकसज्जा, ७ स्वाधीनपतिका, ८ कृष्णा-भिसारिका, ९ प्रवत्स्यत् पतिका तथा १० आगत् पतिका]।

इनमें से प्रत्येक के उदाहरण निम्न प्रकार से हैं :—

प्रकृति परक

(प्रिय के दोष में भी संतोष)

वे धनि हैं सजनी तिय जे अपने पिय को जिय जीवन जानतीं ॥

(प्रिय के दोष के प्रति मान)

जीवन है तिनको धिक री ! गुन औगुन जे पिय के न पिछानैं ॥

(प्रिय के दोष के प्रति आक्रोश)

प्यौ परि पाय मनाय जऊ तऊ पापिन को कछु पीर न आई।

स्वभाव परक

१. अन्य सुरत दुःखिता (अन्या के प्रति रति से दुःखित)

'बोलति न काहे ?'
'एरी ! पूछे बिन बोलों कहा ?'
'पूछती हों, कहा भई स्वेद अधिकाई है ?'
कहै पदमाकर 'सुमारग के आए गए।'
'साँची कह मोसों आज कहाँ गई आई है ?'
'गई आई हों तौ पास साँवरे के।'
'कौन काज ?'
'तेरे लिए ल्यावन सु तेरि ये दुहाई है।'
'काहे तें न लाई फिर मोहन बिहारी जू को ?
'कैसे वाहि ल्याऊँ ?'
'जैसे वाको मन ल्याई है।'

२. मानवती

ऊजरी जो पै करी करतार तो गूजरी एतो गरूर न कीजै।

३. वक्रोक्ति गर्विता (प्रेम गर्विता)

हौं परछाहीं हुती उनकी अब वेहु भये हमरी परिछाहीं ॥

(रूप गर्विता)

मेरो मुख चन्द सो बतावें ब्रजचन्द रोज
कहौ ब्रजचन्द जू सौं चन्द देखिबौ करैं ॥

(गुण गर्विता)

गौनहिं जाय के येरी भटू ! सुनि मायके फेरि न आवन पै हौं ॥

धर्म परक

स्वकीया (प्रिय ही प्रभु हैं)

पति को तजि और जुवा जगतीतल चौथ को चंदहि जानती हैं ॥

स्वकीया के अन्तर्गत ज्येष्ठा (प्रिय की विशेष प्रिय)

वा दृग मूँदि उतै चितई इन भेंटी इतै वृषभान की जाई ॥

स्वकीया के अन्तर्गत कनिष्ठा

कर एक सों आरसी कै मुख ओर गही कर एक सों कंज कली ॥

अवस्था परक

स्वकीया के अन्तर्गत मुग्धा (नव यौवना)

पल पल में पलटन लगे जाके अंग अनूप ।
ऐसी इक ब्रजबाल को को कहि सकत सरूप ?

मुग्धा के अन्तर्गत अज्ञात यौवना

कहि को हैं हमारे वे कौन लगे जिनके सँग खेली हौं साँवरियाँ ?

मुग्धा के अन्तर्गत ज्ञात यौवना

भाजि गई लरिकाई मनों लरिकै करिकै दुहूँ दुँदुभी औंधे ॥

ज्ञात यौवना के अन्तर्गत नवोढ़ा (अत्यधिक लज्जा)

तिय देख्यो पिय स्वप्न में गहत आपनी बाँह ।
नहीं नहीं कहि जगि भगी, जदपि नहीं ढिग नाँह ॥

ज्ञात यौवना के अन्तर्गत विश्रब्ध नवोढ़ा (लज्जा के साथ प्रिय पर विश्वास)

प्रीत मैं पान खवाइबे को परजंक के पास लौं जान लगी है ॥

मध्या (काम और लज्जा समान रूप से)

परि लाज मनोज के मोह तिया जुग चुम्बक बीच की लोह भई ।

मध्या के अन्तर्गत अधीरा (अन्य के प्रति रति देख व्यंग्य कर्त्री)

साँची कहो इन नैनन रंग की बोनो कहा तुम लाल रँगाई ?

मध्या के अन्तर्गत अधीरा (अन्य के प्रति रति देख क्रोध कर्त्री)

'कहाँ आए ?'
'तेरे धाम।'
'कौन काम ?'
'घरैं जानि'।
'तहाँ जाउ'
'कहाँ' ?
'जहाँ मन धरि आए हो।'

मध्या के अन्तर्गत धीरा धीरा (अन्य के प्रति रति देख रुदन-सहित रोष)

बे दरदी दरदी न लखै गति जानत है दरदी दरदी की ॥

प्रौढ़ा—(काम में प्रवीण)

हम तो अपनो वर पूजती हैं सपनेहुँ न पीपर पूजती हैं ॥

प्रौढ़ा के अन्तर्गत रति-प्रीता

कान्ह के कानन आँगुरी नाइ रही लपटाइ लवंग लता सी ॥

प्रौढ़ा के अन्तर्गत आनन्द सम्मोहिता

सीस फूल सरकि सुहावने लिलार लाग्यो
लामी लटैं लटकि परी हैं कटि छाम पर।

प्रौढ़ा के अन्तर्गत धीरा—(मान सहित उदासीन)

छिपत छिपाये तऊ छलन छबीली अब,
उर लगबे की बार हार न उतार्‌यो तू ?

प्रौढ़ा के अन्तर्गत अधीरा (अन्य के प्रति रति देख कर रोष से अधीर)

रोस करि पकरि परोस ते लियाई घरैं,
पीको प्राण प्यारी भुजलतनि भरै भरै।

प्रौढ़ा के अन्तर्गत धीराधीरा (अन्य के प्रति पति-रति से क्रुद्ध)

आए हौ भोर भए घन आनँद आँखिन माँझ तौ साँझ सी फूली॥

परकीया (पर पुरुष के प्रति प्रेम)

ऊढ़ा (पति के स्थान पर अन्य से प्रेम)

ह्वै वनमाल हिये लगियै अरु ह्वै मुरली अधरा रस पीजै ॥

परकीया के अन्तर्गत अनूढ़ा (अविवाहिता का अन्य से प्रेम)

ऐसो उपाय बताय सखी हरि अंक लगे पै कलंक न लागै ॥

परकीया के अन्तर्गत गुप्ता (पर-पुरुष के प्रेम का गोपन)

चिरजीवहि नन्द को बारो अरी, गहि बाँह गरीब ने ठाढ़ी करी।

परकीया के अन्तर्गत विदग्धा (पर-पुरुष के प्रेम का चतुराई से निर्वाह)

मेरे कर मेंहँदी लगी है नन्दलाल प्यारे !
लट उरझी है नेक बेसर सुधारि दे।

परकीया के अन्तर्गत लक्षिता (पर-पुरुष के प्रेम की लक्षणा)

इनकी उनसों जो लगी अँखियाँ कहिये तौ हमें कछू का परी है ?

परकीया के अन्तर्गत कुलटा

काहू सों नैननि ही मुसकात है, काहू सों कौनों लगावति घातें।

परकीया के अन्तर्गत अनुशयाना (संकेत नष्ट होने पर दुःखित)

कैसे हैं या पुर के जन ये बन बागन त्यागि तडाग बनावें ॥

परकीया के अन्तर्गत मुदिता

न्योते गये घर के सिगरे सु बेरामी की ब्याज कै आजु रही मैं।

सामान्या (गणिका)

एक पग भीतर सु एक देहरी पै धरे,
एक कर कंज एक कर है किवार पर।

दशा परक

प्रोषित पतिका—मुग्धा प्रोषित पतिका (प्रिय के विदेश-गमन से संतप्त)

वह नाहक गोरी गुलाब कली-सी मनोज के हाथ हवाले परी।

मध्या प्रोषित पतिका

मन तौ मनमोहन के सँग गो तन लाज मनोज के पाले पर्यो।

प्रौढ़ा प्रोषित पतिका

सांझ भये भौन सँझवाती क्यों न देत आली,
छाती में छुवाय दिया बाती क्यों न बारि ले।

परकीया प्रोषित पतिका

सेस के गोत के ऐसेहि होत हैं, चन्द नहीं या फनिन्द है माई ॥

सामान्य प्रोषित पतिका

सीत के अन्त बसन्त लग्यो अब कौन के आगे वसन्त लै राखें ?

खण्डिता मुग्धा खंडिता (अन्य के प्रति पति-रति से क्रुद्ध)

राख्यो भुजा में छिपाय जराय को कंकन सो हमको पिय दीजै ॥

मध्या खंडिता

यह लागत मोहन नीक लला नितको उठि आवन जावन जू ।।

प्रौढ़ा खंडिता

छाती की छाप को प्यारे पिया कहिए बलि या को महातम कौन है ?

परकीया खंडिता

द्वार खुले लखि लोगन के हठि, क्यों निज द्वार किवार लगाये ?

सामान्य खंडिता

बड़े साह लखि हम करी, तुमसों प्रीति विचारि ।
कहा जानि तुम करत हौ, हमें और की नारि ?

कलहान्तरिता मुग्धा कलहान्तरिता (अपमान कर पीछे से पश्चात्ताप करने वाली)

आयो यही पछितायो अली, गयो आजु को खेलिबो कुंज चमेली ।।

मध्या कलहान्तरिता

आपु ते ल्याउ मनाय कन्हाई को, मेरो न लीजियो नाम सहेली ।।

प्रौढ़ा कलहान्तरिता

अंजुलि जोरि निहोरि गरे परिहौं हरि प्यारे के पाँय परौंगी ।।

परकीया कलहान्तरिता

भूलि हूँ चूक परै जो कहूँ, तिहि चूक की हूक न जात हिये तें ।।

सामान्या कलहान्तरिता

आपने हाथ सों आपने पाँय पै पाथर पारि पर्‌यो पछिताने ।।

विप्रलब्धा मुग्धा विप्रलब्धा—(संकेत स्थान पर प्रिय की अनुपस्थिति से दुखी)

नवल गूजरी ऊजरी, निरखि ऊजरी सेज ।
उदित उजेरी रैन की, कहि न सकत कछु तेज ।।

मध्या विप्रलब्धा

सजन विहूनी सेज पर परे पेखि मुकतान ।
तबहिं तिया को तन भयो, मनहुँ अधपक्यो पान ।।

प्रौढ़ा विप्रलब्धा

निरखि सेज रँग रँग भरी, लगी उसासें लेन ।
कछु न चैन चित में रह्यो, चढ़त चाँदनी रैन ।।

परकीया विप्रलब्धा

पगनि में छाले परे, नाघिबे को नाले परे,
तऊ लाल लाले परे रावरे दरस के ॥

सामान्या विप्रलब्धा

इत न मैन मूरति मिल्यो, परै कौन विधि चैन !
धन की भई न धाम की गई ऐसही रैन ॥

उत्कंठिता   मुग्धा उत्कंठिता (प्रिय की प्रतीक्षा में उत्कंठित)

जाय हरी सों कहो किन री ! अरी राधिका बावरी सी बिलखाति है ।

मध्या उत्कंठिता

अनत रमि रहे कन्त क्यों यह बूझन के चाइ ।
सुमुखि सखी के श्रवन सों मुख लगाइ रहि जाइ ॥

प्रौढ़ा उत्कंठिता

मन मोहन तो हियरा न लगे, नथ के मुकता सियरान लगे ॥

परकीया उत्कंठिता

एरी इन नैनन के नीर में अबीर घोरि,
बोरि पिचकारी चित-चोर पै चलाइ आउ ॥

सामान्या उत्कंठिता

मोहन मो मन मोहिबे कौ किधौं मो मन को मनिहार न पायो ।

वासक सज्जा   मुग्धा वासक सज्जा—(स्वागत-सज्जा में संयोजित)

साजि सेज भूषन वसन, सब ही नजर बचाइ ।
रही पौढ़ि मिस नींद के, दृग दुबार ते लाइ ॥

मध्या वासक सज्जा

सुभ सिंगार साजे सबै दै सखीन को पीठि ।
चली अधखुले द्वार लौं, खुली अधखुली डीठि ॥

प्रौढ़ा वासक सज्जा

द्वार की ओर दिये दृग दोऊ निहारति प्यारी पिया मग पी को ।

परकीया वासक सज्जा

रूसि कै रोस सनी सजनी घर सून में जाइ बिछावति सेज है ॥

सामान्या वासक सज्जा

बैठी बधू बनि बाग बिहार में, बार बगारि सिवार से सीरे ॥

स्वाधीन पतिका मुग्धा स्वाधीन पतिका

अब ज्यों हिय में नित बैठी रहो, त्यों दया करि के ढिग बैठी रहो।

मध्या स्वाधीन पतिका

दै गलबाहीं जो नाहीं करी वह नाहीं गोपाल को भूलति नाहीं ॥

प्रौढ़ा स्वाधीन पतिका

और सिंगार सजे तौ सजो इक हार हहा ! हियरे मति गेरो ॥

परकीया स्वाधीन पतिका

पौन मया करि घूंघट टारै दया करि दामिनी दीप दिखावै ॥

सामान्या स्वाधीन पतिका

यह जग में धनि धन्य तू सहज सलोने गात ।
धरनीधर जो बस कियो, कहा और की बात ॥

अभिसारिका मुग्धाभिसारिका (प्रिय से मिलनार्थ स्वयं जाने वाली)

बैस की थोरी किसोरी हरे हरे या विधि नन्द किसोर पै आई ॥

मध्याभिसारिका

दुहूँ दिसि कच कुच भारतें, झुकति जाति यौं बाल ।
मानहुँ आसवतें छकी, चली छकावनि लाल ॥

प्रौढ़ाभिसारिका

'कौन है तू कित जात चली बलि बीती निसा अधराति प्रमानैं ?
'हौं पदमाकर भावती हों निज भावते पै अबही मुहि जानें ।'
'तू अलबेली अकेली डरै किन ?'
'क्यों डरौं, मेरी सहाय के लाने ।
है सखि संग मनोभव सो भट कान लौं बान सरासन तानें ॥'

परकीयाभिसारिका

ललित लता लपटी तरुन हरित भूमि चहुँ ओर ।
रतिपति रस राचत खरे, बन बन नाचत मोर ॥

सामान्याभिसारिका

फागु में मोहन को मन लै फगुवा में कहा अब लैन चली हौ ।

अभिसारिका के तीन प्रकार हैं :—

१ दिवाभिसारिका २ कृष्णाभिसारिका ३ शुक्लाभिसारिका

दिवाभिसारिका

सजि सारँग सारँगनयनि, सुनि सारंग बन माँहि।
भर दुपहर हरि पै चली, निरखि नेह की छाँहि ॥

कृष्णाभिसारिका

कारी निसि कारी घटा, कचरति कारे नाग।
कारे कान्हर पै चली, अजब लगनि की लाग ॥

शुक्लाभिसारिका

जुवति जुन्हाई सो न कछु और भेद अवरेख।
तिय आगम पिय जानिगौ चटक चाँदनी पेख ॥

प्रवत्स्यत्पतिका **मुग्धा प्रवत्स्यत्पतिका**—(प्रिय का विदेश-गमन सुन कर व्याकुल)

लाल को गमन सुनि आगमन गोरी भोरी,
चोराचोरी नजर चकोरी कर राखी है।

मध्या प्रवत्स्यत्पतिका

प्रान के नाथ चले अनतें तनतें नहिं प्रान चले केहि कारन।

प्रौढ़ा प्रवत्स्यत्पतिका

असन चले आँसू चले, चले नैन के बान।
रमन गमन सुनि सुख चले, चलत चलेंगे प्रान ॥

परकीया प्रवत्स्यत्पतिका

रस प्याय कै ज्याय बँधाय कै आस विसास में ना बिस घोरिये जू ॥

सामान्या प्रवत्स्यत्पतिका

जैहै कहा कछु रावरे को, हमरे हिय को तो हरा हरि जैहै !

आगत पतिका **मुग्धा आगतपतिका** (प्रिय के विदेशागमन से प्रसन्न)

घूँघट को पट ओट किये, पट ओट किये पिय को मुख देखे ॥

मध्या आगत पतिका

ललचाई रही सकुचाइ रही, सिर नाइ रही मुसकाय रही ॥

प्रौढ़ा आगत पतिका

बाम बाँह फरकति मिलै जो हरि जीवन मूरि ।
तौ तोही सों भेटि हौं, राखि दाहिनी दूरि ॥

परकीया आगत पतिका

प्यारी को प्रवीन पति आयो चहै आज उतै,
द्वार पै परोसिन की आँख फरकति है ।

सामान्या आगत पतिका

आवत नाह उछाह भरे अवलोकिबे को निज नाटक शाला ।
हौं नचि गाय रिझावहुँगी पदमाकर त्यों रचि रूप रसाला ।
ऐ सुक मेरे सु मेरे कहे यों इतै कहि बोलियो बैन बिसाला ।
कंत, बिदेस रहे हो जिते दिन देहु तिते मुकतान की माला ॥

नायक-नायिका-भेद वस्तुतः कला-काल में प्रेम, वासना और सौन्दर्य का एक ऐसा त्रिकोण है जिसकी एक भुजा अन्य भुजाओं से मिल कर जीवन का एक विशिष्ट रेखांकन करती है । जिस प्रकार अन्नमय कोष के भीतर मनोमय, ज्ञानमय और विज्ञानमय कोष हैं, उसी प्रकार इस त्रिकोण के भीतर अनेकानेक त्रिकोण हैं जिनमें संयोग और वियोग के अनेकानेक संवेदनशील चित्र हैं । नारी पुरुष किन परिस्थितियों में एक दूसरे से मिल सकते हैं और उन परिस्थितियों में यौवन का ही एक ध्रुव-नक्षत्र है जिनसे उनकी दिशा का निर्धारण हो सकता है । उस ध्रुव-नक्षत्र में इतना आकर्षण है कि नायक और नायिका एक दूसरे से चाहे कितनी ही दूर हों—भावना के दूरवीक्षण यंत्र से एक दूसरे के समीप ही दृष्टिगत होते हैं ।

मनोवैज्ञानिक आधार

इस नायक-नायिका-भेद के अन्तराल मे मानसिक पक्ष का बहुत महत्त्वपूर्ण आधार है । यह सही है कि यौवन को ही केन्द्र मान कर नायक-नायिका के भेदों की परिधि खींची गई है किन्तु उस परिधि में मनोविज्ञान का एक व्यापक क्षेत्र अन्तर्हित है । संयोग और वियोग की अवस्थाएँ तभी मर्मस्पर्शी होती हैं जब उन अवस्थाओं में हृदय की अनेक रागात्मक वृत्तियों का समीकरण और समानीकरण हो । यही कारण है कि नायिकाओं के विभाजन का आधार प्रकृति, स्वभाव, धर्म, अवस्था और दशा के अन्तर्गत है । इन आधारगत परिस्थितियों में मानसिक भावों में कितना परिवर्तन हो जाता है और उन परिवर्तनों के बीच प्रेम की प्रक्रिया किस प्रकार घटित होती है, इसका निरूपण ही नायिका-भेद को साहित्य का अविभाज्य अंग बनाता है ।

प्रकृति के मूल में स्वभाव की जो लता बढ़ती है, उसमें धर्म के वृत्तों में अवस्था के पल्लव और दशाओं की कलिकाएँ प्रस्फुटित होती हैं। वे कलिकाएँ ही नायिका-भेद की सुरभि सभी दिशाओं में वितरित करती हैं। ये दस कलिकाएँ—प्रोषित पतिका, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, उत्कंण्ठिता, प्रवत्स्यत्पतिका एक ओर, तो अभिसारिका, वासक सज्जा, स्वाधीन पतिका और आगत पतिका दूसरी ओर हैं। पहली विरह के कारण सम्पुटित अथवा अर्द्धविकसित हैं और दूसरी मिलन के कारण प्रस्फुटित और पूर्ण विकसित हैं। संसार में मिलन की अपेक्षा विरह ही प्रधान है, इसलिए प्रस्फुटित कलिकाओं की अपेक्षा सम्पुटित कलिकाएँ ही अधिक हैं। इन दश दशाओं में विरह और मिलन की स्थितियाँ मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, परकीया और सामान्या के मनोविज्ञान में प्रवेश कर निरूपित की गई हैं। इससे इन दशाओं के अंतर्गत पाँच प्रकार के मनों की प्रतिक्रिया संयोग और वियोग में किस प्रकार हो सकती है, यही इन पचास (१०×५) चित्रों में देखने को मिल जाती है। ये समस्त चित्र प्रेम के संदर्भ में हैं। मानव में पशुत्व का अंश कभी समाप्त नहीं हो सकता, भले ही वह किन्हीं किन्हीं परिस्थितियों में कम अवश्य हो जाय। मनुष्य प्रेम के क्षेत्र में अत्याचार करना भी जानता है। वह चाहता है कि उसके अत्याचार या निष्ठुरता की जो प्रतिक्रिया नारी पर होती है, उसका रस भी वह मन भर पी सके। उसके विरह में नारी जितनी ही तृषित होती है, संभवतः वह उतना ही तृप्त होता है। एक अहेरी अपने कौतुक-बाण से किसी हरिणी को आहत कर देता है। वह अहेरी तो बाण मार कर चला जाता है, हरिणी जीवन भर तड़पती रहती है। उसी प्रकार पुरुष जिसने जीवन का बहुत सा अधिकार अपनी बाहुओं में समेट रक्खा है, अपने अनुराग के अग्नि-बाण का प्रयोग कर देता है और दूसरी ओर नारी के हृदय के कोमल-कपास में प्रलय की आग जल उठती है, और वह जीवन भर तड़पती रहती है। पुरुष के इसी क्रीड़ामय संतोष ने नायिकाओं के अनगिनती भेदों की सृष्टि कर डाली है जिनमें उसने मिलन की अपेक्षा विरह में ही अपने जीवन के अमूल्य मोती नेत्रों से बरसा दिये हैं। हमारे आचार्यों और कवियों ने उसे सुख केवल चालीस प्रतिशत ही दिया है!

साहित्यिक आधार

नायिका-भेद का मूलाधार भले ही लोक-जीवन हो तथापि उसे उपयुक्त शैली में प्रस्तुत करने का श्रेय साहित्य को ही है। नाट्य-साहित्य ने तो उसे कथा-वस्तु के रूप में अनेक प्रकार की जीवनगत परिस्थितियों के साथ जोड़ा, काव्य-साहित्य ने उसे सामाजिक जीवन के वैभव और व्यक्तिगत जीवन के आनन्द-विलास के रूप में चित्रित किया। इसे काम-विषयक साहित्य से प्रोत्साहन अवश्य मिला किन्तु काव्य की विविध रीतियों ने और रस के अन्तर्व्यापी सम्मोहन ने इस विषय को एक विशिष्ट मनोरमता प्रदान की। प्रकृति की पृष्ठभूमि में यह विषय मनो-

भावों को व्यक्त करने का एक शोभाशाली माध्यम रहा। विविध ऋतुओं में पुरुष और नारी के विचारों में जो वैचित्र्य और विविधता दृष्टिगत होती है, उसके आकलन में काव्य-साहित्य ने अपनी अपूर्व क्षमता दिखलाई है। अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति ने यहाँ रस में अन्तर्भूत मनोभावों का जितना अलंकरण किया है, उतना साहित्य के अन्य विषयों में संभव नहीं। छन्दों ने अपनी सरसता और अर्थानुकूल लय और गति में एक विशिष्ट संगीतात्मकता की अभिव्यक्ति की है। कवियों ने अपनी प्रतिभा से विविध नायकों और नायिकाओं के उदाहरणों में नये संसार की सृष्टि की है, और वह जीवन्त होकर हमारे हृदयों में एक अमिट छाप डालते हुए स्थिर हो गई है। कोमल और सूक्ष्म भावों की अभिव्यंजना में कवियों ने जो कौशल दिखलाया है, वह मन को काव्य के प्रबल रागात्मक तत्त्वों की ओर खींचकर ले गया है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

यह भी कहा जा सकता है कि नायिका-भेद प्रकारान्तर से हमें रहस्यात्मक अनुभूतियों की ओर भी ले जाता है। विशेष कर जब इस काव्य के साथ राधा और कृष्ण का नाम सम्वलित है तो इससे अध्यात्म-पक्ष की पुष्टि तो होती ही है। आचार्य रूप-गोस्वामी ने भक्ति को रस मानते हुए राधा-कृष्ण के व्यक्तित्व को नायिका-भेद में घटित करने का प्रयत्न किया है। स्थूल शृंगार तो केवल आसक्ति को उभारने की भूमिका है जो आगे चल कर सहज ही आध्यात्मिक अनुरक्ति में परिवर्तित हो जाती है। महाकवि सूरदास ने भी राधा और गोपिकाओं के शृंगार का चित्रण किया है किन्तु उनके काव्य से हमारा मन स्थूल शृंगार की ओर न जाकर सूक्ष्म भक्ति-विषयक आसक्तियों में ही लीन हो जाता है। हमें रीति-काव्य का नायिका-भेद भी उसी दृष्टि से पढ़ना चाहिए। जब हम नायक और नायिकाओं में अपना रूप देखने लगते हैं तो हमारे मन में वासना का जन्म हो जाता है, यदि हम नायक और नायिकाओं में अपने आराध्य श्रीकृष्ण और आराध्या राधा का रूप देखने का प्रयत्न करें तो स्थूल शृंगार उस आध्यात्मिक आवेश में भक्ति का ही सहचर बन जायगा और हमारे मन में वासना के स्थान पर आध्यात्मिक तन्मयता का प्रसार हो जायगा।

वल्लभ सम्प्रदाय ने यही किया है। उसने जीवन की समस्त शृंगारिक प्रवृत्तियों को भक्ति के साथ जोड़ कर जीवन में संतुलन उपस्थित किया है। जीवन की मूल संवेदना को काटा या बाँटा नहीं जा सकता। यह सम्भव नहीं है कि हम भौतिक जीवन में इन्द्रियों के दास हों और आध्यात्मिक जीवन में भगवान् श्रीकृष्ण के अनन्य उपासक भी बन जावें। जीवन शरीर के साथ है जो सदैव वस्तुगत और वासनागत प्रवृत्तियों से सम्बद्ध है। ऐसी स्थिति में शरीर की अनिवार्य वृत्तियों से हमें तभी मुक्ति मिल सकती है जब उन्हें कृष्ण-भक्ति की यमुना में प्रवाहित कर

दिया जाय। इससे मनुष्य को कुंठाओं और आत्म-गोपन से भी मुक्ति मिलेगी और वह अपनी समस्त वासनाओं को कृष्णार्पण कर देगा। इसका संकेत हमें महाकवि तुलसीदास के मानस के सुन्दर काण्ड में भी मिलता हैं जब शरणागत विभीषण ने भगवान् श्रीराम से कहा :—

मन महँ कछुक वासना रही। प्रभु पद-प्रीति-सरित सो बही॥

ऐसा ही दृष्टिकोण कृष्ण-भक्ति में भी है जहाँ मन की समस्त वासनाओं को भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति-सरिता में प्रवाहित करने की भावना है। जब भगवान् श्री कृष्ण स्वयं शृंगार के देवता हैं, और विविध नायकों के रूप में राधा से विविध नायिकाओं के रूप में मिलते हैं तो भौतिक शृंगार की वासना ही कहाँ रही? इससे मनुष्य का वासना-पक्ष भी उदात्त हो कर भगवान् कृष्ण की शरण में लीन हो जाता है। यही काव्य का जीवन्त-सौन्दर्य है। यह बात दूसरी है कि कुछ कवियों ने भौतिक शृंगार की अतिरंजना कर भावनाओं को स्थूलता प्रदान कर दी है। किन्तु भावनाएँ चाहे जितनी स्थूल हो जावें, यह तो पाठक की प्रवृत्ति पर निर्भर है कि वह उनमें भी भक्ति का उन्मेष अनुभव कर सके। फिर नीर-क्षीर विवेक की भाँति वासना की अपेक्षा प्रेम ही अधिक स्थायी और मन को विश्राम देने वाला है। और श्रीकृष्ण और राधिका के चरणों में प्रेम की भावना स्थूल से स्थूल शृंगार को सूक्ष्म रागात्मक अनुभूति में परिणत करने में सक्षम है।

कलात्मक आधार

नायक-नायिका-भेद में मनोविज्ञान और सौन्दर्य की इतनी सूक्ष्मता है कि उसकी कल्पना निश्चय ही चित्र-कला का आधार रही होगी। यही कारण है कि काव्य-साहित्य का यह अंग सत्रहवीं शताब्दी से चित्र-कला का मूल प्रेरणा-स्रोत रहा है। राजस्थानी और पहाड़ी चित्रकला ने नायिका-भेद के चित्रों का निर्माण करने में जिस सूक्ष्म भावाभिव्यञ्जना का प्रदर्शन किया है, वह समकालीन किसी अन्य वस्तु के चित्रण में नहीं है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि राग और रागिनियों के चित्र भी नायिका-भेद के चित्रों की भाँति सूक्ष्म-भावाभिव्यंजन में अप्रतिम हैं। रागों की ध्यान-जनित अनुभूति ही इसका कारण होगी किन्तु नायक-नायिका-भेद में अनुभाव के अंतर्गत जो बारह प्रकार के लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, ललित, मोट्टायित, विब्बोक, विहृत, कुट्टमित, हेला और बोधक हाव हैं तथा रस के अंतर्गत स्थायी भाव के साथ जो तैंतीस संचारी भाव हैं, उनकी अभिलषित अभिव्यक्तियों ने चित्रकला को जो सामग्री प्रदान की, वह राग और रागिनियों के लय और स्वर-विस्तार ने न दी होगी। फिर राग-रागिनियों का पारस्परिक सम्बन्ध भी नायक और नायिका के आधार पर ही है। मैं तो यहाँ तक

कहना चाहता हूँ कि नायक-नायिका भेद की अनुभाव और संचारी भाव-राशि ने ही राग-रागिनियों के रूप-चित्रण में सहायता पहुँचाई होगी।

कला-काल की सामाजिक और राजनीतिक प्रवृत्ति चित्रकला को प्रोत्साहन दे रही थी। अनेक चित्रकार राज्याश्रित थे। प्रत्येक राजा, सामंत और सूबेदार के संरक्षण में अनेकानेक चित्रकार थे। ऐसी परिस्थिति में यदि काव्य और चित्र का इतना सुन्दर समन्वय हुआ तो आश्चर्य ही क्या ! महाकवि केशवदास की रसिक प्रिया ने न जाने कितने चित्रकारों को नायिका-भेद चित्रित करने की प्रेरणा प्रदान की।

नायिका-भेद में तो बहुत अधिक विस्तार है किन्तु चित्रकारों ने प्रमुख रूप से आठ नायिकाओं का ही चित्रण किया है। दशा-परक नायिकाओं की संख्या दस है—प्रोषित पतिका, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, प्रवत्स्य-त्पतिका, वासकसज्जा, अभिसारिका, आगत पतिका तथा स्वाधीन पतिका। इन दस में सामान्य रूप से कलहान्तरिता और प्रवत्स्यत्पतिका रूप उतने प्रभावपूर्ण नहीं रहे। शेष आठ नायिकाओं का चित्रण चित्रों की अनेकानेक शैलियों में होता रहा। रसों के निरूपण में चित्र और चित्रसारी का विशेष स्थान निरूपित किया गया है। वियोग श्रृंगार की एकादश दशाओं के अंतर्गत जड़ता की अवस्था का एक चित्र देखिए :—

आजु बरसाने की नवेली अलबेली वधू,
मोहन विलोकिबे को लाज काज लै रही।
छज्जा छज्जा झाँकती झरोखनि झरोखनि ह्वै,
चित्रसारी चित्र सारी चन्द्र सम ह्वै रही।
कहै पदमाकर त्यों निकसो गोविन्द ताहि,
जहाँ तहाँ इकटक ताकि धरी ह्वै रही।
छज्जावारी छकी सी उझकी सी झरोखा वारी,
चित्र कैसी लिखी चित्रसारी वारी ह्वै रही॥

उद्दीपन विभाव ने नायिका-भेद के चित्रों की पृष्ठ भूमि बड़े सजीव ढंग से प्रस्तुत की है। प्रत्येक नायिका की मनोदशा से मेल खाने वाले प्राकृतिक प्रभाव अत्यन्त कौशल और मनोयोग से चित्रित हुए हैं। चारों ओर के वातावरण से जो प्रभाव उत्पन्न होता है, उसका सामञ्जस्य नायिका के मुख और अंगों की मुद्रा पर घटित हुआ है। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि चित्र में या तो अन्तर्जगत ही प्रकृति के रूप में प्रकट हो गया है, या प्रकृति का रूप ही घनीभूत होकर नायिका की मुख-

मुद्रा में साकार हुआ है। इस समन्वय और सामंञ्जस्य की भावना ने नायिका-भेद के चित्राधार को अतीव कोमलता और मनोवैज्ञानिकता प्रदान की है।

संगीतात्मक आधार

कला-काल को जहाँ अन्य ललित कलाओं का आधार प्राप्त हुआ, वहाँ संगीत का आधार भी प्राप्त हुआ है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि भक्ति के जिस उन्मेष ने कवियों से पद-रचना कराई, वह उन्मेष इस काल में नहीं था। काव्य-रचना में पद का महत्त्व भी वैसा नहीं रह गया था किन्तु कवित्त, सवैयों और दोहों की मुक्तक शैली इस बात का संकेत अवश्य करती है कि ये मुक्तक भी स्वर-सहित और कभी-कभी राग-सहित पढ़े जाते होंगे। राज दरबारी और सामन्ती वातावरण में मुक्तक को स्वर की आधार-पीठिका अवश्य ही प्राप्त रही होगीं। सम्राट् अकबर के समय से संगीतज्ञों की जो परम्परा चली वह जहाँगीर और शाहजहाँ द्वारा भी पोषित हुई। विलास खाँ, छतर खाँ, लाल खाँ और जगन्नाथ इनके दरबारों में संगीत की साधना करते रहे और उनसे प्रभावित होकर अनेक प्रकार की 'गायकी' में स्वर, नाद और रस का अभिषेक होता रहा।

दिल्ली और आगरा के राज दरबार ही संगीत के केन्द्र नहीं रहे, वरन् राजस्थान के राज्याश्रय में भी संगीत का यथेष्ट पोषण हुआ। राजस्थान में जयपुर वास्तव में एक विशाल सांस्कृतिक केन्द्र था। जयपुर नरेश महाराज माधवसिंह जिनका शासनकाल संवत् १८०८ से १८२४ है एक बहुत बड़े संगीतज्ञ थे। इनके दरबार का गायक द्वारका नाथ था जो राग-चन्द्रिका का प्रणेता था। अन्तिम मुगल बादशाह मोहम्मद शाह रंगीले थे जिन्होंने प्रसिद्ध गायक सदारंग और अदारंग को आश्रय देकर संगीत के प्रसार में विशेष ख्याति पाई। इनके ख्याल और शोरी मियाँ के 'टप्पा' आज भी संगीत के क्षेत्र में अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। पं० अहोबल का 'संगीत पारिजात' इसी समय की प्रसिद्ध रचना है। महाराज सवाई प्रताप सिंह जिनका राज्यकाल संवत् १८३६ से १८५८ तक रहा, संगीत के महानतम आश्रयदाता थे। वे स्वयं संगीत की साधना तो करते ही थे अपने आश्रित संगीतज्ञों को संगीत के क्षेत्र में सभी सुविधाएँ भी देते थे। उन्होंने संगीतज्ञों का विराट् सम्मेलन किया और उत्तरी भारत के संगीत को एक स्वस्थ रूप दिया। 'संगीत-सार' जैसे प्रामाणिक ग्रन्थ का प्रणयन इसी विचार-विनिमय के परिणामस्वरूप कहा जा सकता है। इनके दरबार का संगीतज्ञ चाँद खाँ था जो 'स्वर-सागर' का प्रणेता कहा जाता है।

आश्रयदाता की प्रसन्नता के लिए जहाँ संगीत-शास्त्र की साधना हो, वहाँ

यह संभव नहीं है कि काव्य-साधना उसके प्रभाव से अछूती रहे। कवि अपनी उमंग में यह अवश्य कह देगा कि :—

धीमी धीमी धमक धमार धुनि दै दै,
जगमोहन गली में कोऊ ग्वाल गान गावै ना ॥

महाकवि बिहारी के अनेक दोहे अत्यन्त संगीतात्मक हैं। एक दोहा देखिए :—

रनित भृंग घंटावली, झरत दान मधु-नीर।
मंद मंद आवत चल्यौ, कुंजर कुंज समीर ॥

स्वयं बिहारी की ही अनुभूति थी :—

तंत्री नाद कवित्त रस सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े तिरे, जे बूड़े सब अंग ॥

केवल काव्य-रचना के सम्बन्ध में ही नहीं, संगीत-शास्त्र के सम्बन्ध में भी प्रचुर साहित्य का निर्माण हो रहा था। आलोच्य काल के कुछ ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है :—

(१)	१७वीं शताब्दी	संगीत चन्द्रिका—माधव भट्ट
(२)	,,	राग विवोध—सोमनाथ
(३)	,,	संगीत सुधा—गोविन्द दीक्षित
(४)	,,	संगीत दर्पण—दामोदर मिश्र
(५)	,,	राग तत्त्व विवोध—श्रीनिवास
		संगीत परिजात—अहोबल
(६)	,,	संगीत सर्वस्व—जगद्धर
(७)	,,	संगीत कमलाकर—कमलाकर
(८)	,,	संगीत सार संग्रह—जगज्योतिर्मल
(९)	,,	संगीत सुधा—रघुनाथ भूप
(१०)	,,	संगीत भास्कर—वंगमणि
(११)	,,	संगीत दामोदर—शुकम्भर
(१२)	,,	अनूप संगीत विलास—भावभट्ट

यद्यपि संगीत के क्षेत्र में तीन विशिष्ट परम्पराएँ वैदिक, आगम और ऋषि-प्रोक्त मानी गई हैं तथापि लौकिक परंपराओं ने संगीत के स्वरों के आरोहण और अवरोहण में अनेक संशोधन किए हैं। इन संशोधनों में मुसलमानी प्रभाव भी पर्याप्त मात्रा में देखा जा सकता है। अमीर खुसरो ने जो संशोधन किए उनमें उनकी भारतीय जीवन के प्रति एक गहरी अन्तर्दृष्टि पायी जाती है। उन्होंने न केवल

भारतीय संगीत का अध्ययन किया, वरन् ईरानी संगीत की विशेषताओं को भी पहिचाना और दोनों के योग से उन्होंने ऐसे नवीन रागों का आविष्कार किया जो शास्त्रीय दृष्टि से दोष-हीन होते हुए जन-रुचि के अधिक अनुकूल बन जायँ। उदाहरण के लिए उनका 'इमन-राग' वास्तव में हिंडोल का ईरानी संगीत से मिश्रण ही कहा जा सकता है। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के संगीतकारों ने इन्हीं सब प्रभावों को दृष्टि में रखते हुए भारतीय राग और रागिनियों के स्वरूप का निर्धारण किया है।

एक बात यहाँ और भी समझ लेनी चाहिए। भक्तिकाल में धर्म के जो अनेक सम्प्रदाय बन गए थे, उनमें आराध्य की उपासना के लिए कीर्तन अथवा नाम स्मरण का विशेष अंग था। ये सम्प्रदाय १७वीं शताब्दी से लेकर आज तक अनेक उत्सवों और पर्वों में गीत और संगीत को प्रश्रय देते आए हैं। भक्ति-प्रधान-धर्म में अनेक स्तोत्र एवं विनय-पद अनेक प्रकार के राग और रागिनियों में प्रस्तुत किए गए। जैसे-जैसे ये सम्प्रदाय अपना विकास करते गए, वैसे-वैसे उनमें कर्म--काण्ड और आचार सम्बन्धी कार्य-कलाप अधिक विस्तृत और जटिल होते गए और परिणाम यह हुआ कि सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के कवियों ने पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के कवियों से अधिक आचार सम्बन्धी छंद लिखे। यहाँ तक कि भगवान की लीलाओं में अनेक भावनाओं का समावेश कर उन लीलाओं का अधिक व्यापकता से विस्तार किया। सूरदास ने तो केवल कृष्ण का ही 'घुटुरवन' चलना चित्रित किया किन्तु रसिकदास ने कृष्ण और बलराम दोनों का एक साथ इस भाँति चलना दिखलाया है—

दोउ भैया घुटुरवन चलत।
हरत दुख ब्रज भूमि को दै मोद दैत्यन दलत।

(कीर्तन संग्रह—भाग १)

इस प्रकार धार्मिक सम्प्रदायों में भाव-भक्ति के साथ ही साथ वर्णन-वैचित्र्य भी बढ़ता गया और वर्णन वैचित्र्य के लिए नवीन-नवीन पदों का नवीन राग-रागिनियों में चित्रण करना अधिक आवश्यक हो गया।

जब राधा और कृष्ण नायिक-नायिकाओं के रूप में चित्रित किये गये तो श्रृंगार रस के विवेचन में कृष्ण की बाँसुरी का विचित्र सम्मोहन साहित्य में आ गया।

बंसी लौं मन मीन को खींचत बंशी टेरि।
निकसि चलन को धामतें, बाम न पावत फेरि॥

इस वंशी-वादन के दोनों पक्ष समान रूप से शक्तिशाली हैं, लौकिक पक्ष

है, वह भले ही निसर्गतः सत्य न हो तथापि परम्परा से पोषित होने के कारण उसे मान्यता मिलती रही। जब एक परम्परा किसी वस्तु या परिस्थिति पर अपनी मुहर लगा चुकी है तब उस मुहर को तोड़ना अपने पूर्ववर्ती कवियों के प्रति अनास्था ही प्रकट करना है। आचार्य वामन ने इस 'कवि समय' को 'काव्य-समय' बना कर इसे दोष मान लिया और उनके परवर्ती आचार्यों ने 'कवि-समय' को दोष-वर्णन का ही पर्याय समझा। किन्तु इस दृष्टिकोण का संशोधन राजशेखर ने किया। उन्होंने निसर्ग-सम्मत सत्य के विपरीत कथन को भी स्थिरता प्रदान की क्योंकि हम अपने साहित्य को परम्परा से अलग नहीं कर सकते।

हिन्दी के महाकवि केशबदास ने इस विषय का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है। प्रवीणराय को काव्य का मर्म समझाने के लिए केशवदास ने जो 'कवि-प्रिया' लिखी उसके तीसरे प्रभाव में उन्होंने काव्य-दूषण और चौथे से आठवें प्रभाव में कवि-भेद वर्णन तथा अन्य प्रकार के वर्णनों का विस्तार किया है।

काव्य-दूषण के अन्तर्गत उन्होंने पन्थ-विरोधी अन्ध दोष, शब्द-विरोधी बधिर दोष, छन्द-विरोधी पंगु दोष, अलंकार-हीन नग्नदोष, अर्थ-हीन मृतक दोष, कर्ण-कटु दोष, पुनरुक्तिदोष, देश-विरोधी दोष, काल-विरोधी दोष, लोक-विरोधी दोष एवं न्याय-विरोधी दोष का उल्लेख किया है तथा कवि-भेद वर्णन से लेकर काव्य में प्रयुक्त होने वाले सभी पदार्थों और परिस्थितियों के वर्णन का विस्तार बड़ी ही पांडित्य-पूर्ण शैली में किया है। महाकवि ने कवियों को पहले दोषों से सावधान कर, काव्य में अपेक्षित सभी वर्णनों की एक निश्चित परिपाटी का उल्लेख किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि महाकवि केशवदास ने 'कवि प्रिया' को कवियों के मार्ग-दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ बना दिया है।

केशव दास ने अंध, बधिर, पंगु, नग्न और मृतक नाम से दोषों के नाम गिना कर उन्हें काव्य के लिए वर्ज्य ही माना है। अन्धदोष की परिभाषा—'अन्ध विरोधी पन्थ' का निर्देश कर उन्होंने 'कविता द्वारा संपोषित प्राचीन परम्पराओं से विरोध करना' अनुचित मान कर प्रकारान्तर से राजशेखर के मत का ही समर्थन किया।

काव्य में जो अनेकानेक प्रसिद्धियाँ हैं, वे अधिकतर कवियों और आचार्यों द्वारा प्रकृति के सूक्ष्म पर्यवेक्षण पर ही आधारित मानी जानी चाहिए। प्राचीन कवियों का प्रकृति से घनिष्ठ सम्बन्ध था। वे मानव-जगत् का सम्बन्ध मानवेतर जगत् से जोड़ कर एक विश्वव्यापी रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना करना चाहते थे। मानव और अ-मानव जगत् में ही नहीं, वनस्पति-जगत् में भी वे एक निगूढ़ चेतना का दर्शन करते थे। इस प्रकार वे जहाँ दार्शनिक दृष्टिकोण से विश्वात्मा की परिव्याप्ति सृष्टि

के कण कण में देखकर एक अखंड सत्ता की एक रूपता स्थापित करने में सचेष्ट थे, वहाँ वे अपनी चेतना की किरण जड़ जगत् में प्रक्षेपित कर उसे भी अपने सुख-दुख का समान अधिकार प्रदान करते थे। इस प्रकार उनका काव्य-जगत् जितना अधिक दर्शन से संपोषित था, उतना ही अधिक मनोविज्ञान से और परिणाम-स्वरूप मानव चेतना के समकक्ष अ-मानव जगत् की श्रेणी भी चिन्तन के क्षेत्र में समानान्तर ही परिचालित होती थी।

यह प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का ही परिणाम था कि प्रकृति के प्रत्येक अवयव और उसके परिवर्तन की गति-विधि पर उनका समान अधिकार था। वे जानते थे कि प्रकृति की पूर्णता प्रकृति के प्रत्येक अंग के पारस्परिक सम्बन्ध और उसकी अनुभूति में ही सार्थक है। इसलिए मानव-जगत् की आशा-निराशा, हर्ष-शोक, जीवन और मरण में प्रकृति का सहयोग लक्षित कर वे अपने जीवन और उसकी अभिव्यञ्जना को अधिक स-शक्त और गरिमा-सम्पन्न बना लेते थे। इसी सूक्ष्म और व्यापक प्रकृति-निरीक्षण में अनेक रूपकों, प्रतीकों, परिपाटियों और कवि-प्रसिद्धियों को आकार और आधार मिला और उनके माध्यम से जीवन की विविध परिस्थितियों के चित्रण में एक नवीन परिव्याप्ति और विस्तार की संभावना उत्पन्न हो सकी।

यह संभव है कि अनेक परिपाटियाँ और प्रसिद्धियाँ जो परम्पराओं से पोषित हुई हैं, प्रकृतिगत सत्य के पूर्ण अनुकूल न हों, तथापि उनमें एक ऐसी अन्तर्भूत विचार-सरणि है जो कवि-प्रसिद्धि के द्वारा ही अभिव्यक्त हो सकती है। जीवन के अनेकानेक सम्बन्ध ऐसे हैं जो अपने मूलाधार में प्रकृति से ही पोषित हैं। अविच्छिन्न सम्बन्ध में मीन और जल का अथवा रूप-लिप्सा में दीपक और पतंग का आकर्षण इतना अर्थ-पूर्ण है कि केवल मीन और पतंग कहने से ही मानव के स्वाभाविक मनोराग का संकेत किया जा सकता है। इस प्रकार जब मानवेतर प्रकृति मानव-प्रकृति के समकक्ष चित्रित होती है तो जीवन की पूर्णता साहित्य के पृष्ठों पर उभर कर आ जाती है।

कवि-प्रसिद्धियाँ अनेक रूप ग्रहण करती हैं। कभी ये निसर्ग-सम्मत होती हैं, कभी ये कल्पना-प्रसूत। निसर्ग-सम्मत प्रसिद्धियाँ साहित्य के प्रत्यक्ष सत्य का समर्थन करती हैं और कल्पना-प्रसूत प्रसिद्धियाँ साहित्य में व्यापक सत्य की प्रतिष्ठा करती हैं। उदाहरण के लिए कमल से सम्बन्ध रखने वाली सभी कवि-प्रसिद्धियाँ सत्य हैं। कमल चाहे सूर्य के प्रकाश में प्रस्फुटित हो, चाहे अंगों के उपमान में प्रयुक्त हो, चाहे शोभा और उल्लास का द्योतक हो, सभी परिस्थितियों में कवि-प्रसिद्धि कमल के सन्दर्भ में सार्थक है। किन्तु सीप में स्वाति का जल पड़ने पर मोती की उत्पत्ति

कल्पना-प्रसूत ही ज्ञात होती है। हाँ, महात्मा तुलसीदास ने जिस सन्दर्भ में मोती की उत्पत्ति की कल्पना की है, वह भाव-प्रवणता की दृष्टि से कितनी सार्थक है! मानस के बालकाण्ड के ग्यारहवें दोहे के पूर्व की चौपाइयों में वे लिखते हैं :—

हृदय सिन्धु मति सीप समाना। स्वाती सारद कहहिं सुजाना ॥
जो बरसइ बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकता मनि चारू ॥
जुगति बेधि पुनि पोहिअहिं, रामचरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल, उर, सोभा अति अनुराग ॥११॥

जीवन की रागात्मक प्रवृत्तियों की दृष्टि से कविता में विचारों के प्रतिफलित हो जाने का व्यापार प्रकृति के इस समानान्तर चित्रण के कितने अनुकूल है! भले ही स्वाति-जल से मुक्ता की उत्पत्ति न हो किन्तु कवि के भाव-जगत् में जिस नवीन मुक्ता की स्थिति हो गई है वह कल्पना-प्रसूत होते हुए भी व्यापक सत्य से सर्वांश में समर्थित है। ऐसी स्थिति में कल्पना इतनी सार्थक हो जाती है कि वह सत्य का ही अंग बन जाती है और इसी सत्य के आश्रय में कवि-प्रसिद्धि जन्म लेती है। वृक्षों के पुष्पित होने से सम्बन्ध रखने वाली कवि-प्रसिद्धियाँ प्राय: इसी कोटि की उक्तियाँ हैं। मुग्धा के नूपुर-वलित वाम पद के आघात से अशोक, रमणी-नृत्य से कर्णिकार, मुग्धा के आलिंगन से कुरवक, मुस्कान से चम्पक, स्पर्श से प्रियंगु, देखने मात्र से तिलक, गान से नमेरु, मुख-मदिरा से वकुल, मधुर वाक्य से मन्दार और मुख-वायु से रसाल वृक्ष पुष्पित और मञ्जरित हो जाते हैं। विविध वृक्षों का यह प्रस्फुटन रमणियों के विविध रसात्मक कार्य-कलापों से जोड़ कर हमारे यहाँ के कवियों ने आमोद और उर्वरता की कितनी विराट् एवं सरस कल्पना की है! किसी रमणी के कार्य-कलाप की शोभा का साम्य विविध प्रकार के पुष्पों से करके जहाँ उस शोभा की नवीनता और विशिष्टता प्रतिपादित की गई है, वहाँ वृक्षों से नारियों की शोभा का साम्य स्थापित कर वनस्पति-जगत् से मानव-जगत् का सम्बन्ध भी जोड़ा गया है। उदाहरणार्थ अशोक पुष्प की लालिमा में रमणी के पदों की लालिमा, कर्णिकार में नृत्य के घुंघरुओं का रूप, चम्पक में मुस्कान की श्वेत आभा, और मुख-वायु के प्रवाह में प्रवहमान आम्र-मंजरी का साम्य स्थापित करते हुए मानों सौन्दर्य के पूर्व और उत्तर पक्षों को सम्मिलित कर दिया गया है। यहाँ प्रकृति-निरीक्षण और कल्पना का तथा उसके समकक्ष रमणी-शोभा का अद्भुत सामञ्जस्य उपस्थित कर दिया गया है। इस भाँति कवि-प्रशस्तियों में सौन्दर्य की पूर्णता के साथ मानव और मानवेतर जगत् का निकटतम सम्बन्ध भी स्थापित करने का एक स्वस्थ और प्रशस्त दृष्टिकोण है।

कवि-प्रसिद्धियों के सम्बन्ध में जो विश्वास और मान्यता है, वह वैज्ञानिक दृष्टि से किस सीमा तक सत्य है, इसके जानने के लिए कभी कोई प्रयत्न नही हुआ।

१. क्या चन्द्रिका के प्रकाश में चन्द्रकान्त मणि द्रवित होता है ?
२. क्या सूर्य की किरण से सूर्यकान्त मणि में ज्वाला निकलती है ?
३. क्या चक्रवाक और चक्रवाकी रात में बिछुड़ जाते हैं ?
४. क्या चकोर अंगार खाता है ?
५. क्या सर्प और हाथी के मस्तक में मणि है ?
६. क्या रमणी के पदाघात से अशोक पुष्पित होता है ?
७. क्या स्वाति-जल से सीप में मोती होता है ?
८ क्या वसन्त में ही कोकिल बोलता है ?
९. क्या हंस मोती ही चुगता है ?
१०. क्या प्रत्येक पर्वत में स्वर्ण होता है ?
११. क्या शुक्ल पक्ष में अधिक प्रकाश होता है ?
१२. क्या विद्याएँ अट्ठारह और कलाएँ चौसठ ही होती हैं ?
१३. क्या भोजन में केवल छः रस ही होते है ?
१४. क्या नायिकाएँ कभी वृद्धा नहीं होतीं ?
१५. भ्रमर चम्पक के पुष्प पर क्यों नहीं बैठता ?
१६. कोकिल-बच्चों का पोषण क्या वास्तव में कौए ही करते हैं ?
१७. क्या मानसरोवर में मोती ही होते हैं ?
१८. क्या हारिल पक्षी लकड़ी को अपने चंगुल में दबाए रहता है ?
१९. क्या हंस दूध और जल के मिश्रण को अलग कर सकता है ?

इस प्रकार की अनेक कवि-प्रसिद्धियाँ हैं जो शताब्दियों से मान्य हैं किन्तु उनके प्रकृतिगत सत्य के विश्लेषण का प्रयत्न नहीं हुआ। कुछ तो ऐसी हैं जो अपने सामान्य अनुभव से ही निर्णीत की जा सकती हैं, कुछ ऐसी अवश्य हैं जिनकी खोज पूरी वैज्ञानिकता के साथ होनी चाहिए। कुछ वर्ष पूर्व आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती में एक लेख लिखा था : 'हंस का नीर-क्षीर विवेक।' उस सन्दर्भ में उन्होंने बड़ी मनोरंजक शैली में कुछ तथ्य की बातें लिखी थीं :—

इस देश में हंस विषयक यह प्रवाद हजारों वर्षों से सुना जाता है। पर इसके सत्यासत्य की जाँच किसी ने नहीं की। अमेरिका में हावर्ड नाम का एक विश्व-विद्यालय है। उसमें लांगमैन साहब एक अध्यापक हैं। आपने हंस के इस अलौकिक गुण की परीक्षा का प्रण किया। इसलिए आपने कई हंस मँगाकर पाले और अनेक

तरह से उनकी परीक्षा की। पर नीर को क्षीर से अलग करने में उन्होंने हंस को असमर्थ पाया, तो हंस के नीर-क्षीर विवेक विषयक बातों की क्या संगति हो? ...यदि हंस दूध पीते हैं तो उनको दूध मिलता कहाँ से है? मानस सरोवर में उन्होंने गायें और भैंसें तो पाल नहीं रक्खी और न हिन्दुस्तान ही के किसी तालाब या नदी में उनके दूध पीने की संभावना है। इससे गाय-भैंस का दूध पीना हंसों के लिए असंभव जान पड़ता है।...हंस चाहे मोती चुगते और दूध पीते ही क्यों न हों, पर वे पानी भी पीते है और जलरुह पौधों के फल-फूल, नाल, मृणाल और बिस तन्तु भी खाते हैं...मृणाल दण्ड की ग्राँठों से एक तरह का रस भी निकलता है, वह पतले दूध की तरह सफेद होता है। उसमें कुछ मीठापन भी होता है। उस रस का भी नाम क्षीर है। पेड़ों से निकलने वाले पानी के सदृश्य सफेद रंग के प्राय: सभी प्रवाही पदार्थों का नाम क्षीर है। यहाँ तक कि गूलर, बरगद, थूहड़ और मदार तक से निकलने वाली सफेद चीज को हम लोग दूध ही कहते हैं। मृणाल दण्ड पानी में रहते हैं। उन्हीं के भीतर से क्षीरतुल्य सफ़ेद रस निकलता है। उसी रस को हंस पीते या खाते हैं। अतएव, इस तरह, पानी के भीतर से निकाल कर हंसों का दूध पीना ज़रूर सिद्ध है। अनुमान होता है कि आरम्भ में इसी प्रकार के नीर-क्षीर के पृथकत्व से पण्डितों का मतलब रहा होगा। धीरे-धीरे लोग यह बात भूल गए। उनकी यह समझ हो गई कि मामूली जल-मिश्रित दूध से हंस जल को पृथक् कर देते हैं और जल को छोड़कर दूध भर पी जाते हैं।[1]

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जिस विवेक से नीर-क्षीर-विवेक का स्पष्टीकरण किया है, यदि इसी प्रकार विवेक से अन्य कवि-प्रसिद्धियों की खोज और उनके वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन किया जाय तो साहित्य के क्षेत्र में एक नया अध्याय जुड़ जावेगा। यह तभी संभव है जब हम अपने देश का वनस्पति-विज्ञान तथा जीव-विज्ञान सही ढंग से समझने की चेष्टा करें। उस ज्ञान के साथ यदि हम साहित्य की संवेदनाओं का योग करें तो हम निश्चय ही सही निष्कर्ष पर पहुँच सकेंगे। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक हम उन्हें केवल सौन्दर्य और भाव-प्रवणता के प्रतीक समझें और उन्हें भाव-जगत् को संपोषित करने वाले उपादानों के रूप में स्वीकार करें। बिना समझे उनकी अवहेलना करना प्रकृति-जगत् के एक महान् वैभव को तिरस्कृत करना होगा।

(ङ) कवि-परिपाटी

काव्य में जहाँ समस्त जगत् (दृश्य और अदृश्य) वर्णन की परिधि में आता

---

१. रसज्ञ रंजन—आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, पंचम संस्करण, संवत् १९९८ पृष्ठ ८६—९२ (साहित्य रत्न भण्डार, आगरा)।

है, वहाँ कवि किन वस्तुओं का वर्णन करे और किन्हें छोड़ दे, इस सम्बन्ध में कोई निश्चित विधान नहीं बनाया जा सकता। मान्यता है कि जहाँ रवि की भी गति नहीं है, वहाँ कवि की गति है। ऐसी स्थिति में लोक और लोकोत्तर सभी ज्ञान उसके लिए 'करतल गत आमलक' के समान हैं। वर्णन-वैचित्र्य के इस असीम सागर में कितनी लहरें उठ सकती हैं, इसकी कोई सीमा और संख्या नहीं, किन्तु जिन लहरों की ध्वनि मानव-तट पर आकर उसे शान्ति और शीतलता प्रदान करती है और जिनकी गति विश्व का संगीत बन कर शताब्दियों से मानव को आनन्द प्रदान करती है, वे ही साहित्य में निर्दिष्ट करने के योग्य हैं। जिन मनीषियों ने अपने अनुभव और गम्भीर चिन्तन से इस रहस्य को प्राप्त किया है, वे ही काव्य-विषय की उपयुक्त सृष्टि और उसकी दिशा का संकेत कर सकते हैं।

सभी मनीषी और कवि समान प्रतिभा के नहीं होते। यदि कोई प्रतिभा-सम्पन्न कवि आचार्य हो जाय तो वह वर्ण्य-विषय की एक निश्चित परिपाटी निर्धारित करने में समर्थ हो सकता है। यदि उस प्रतिभाशाली कवि-आचार्य को परम्परा की भाव-सम्पत्ति भी प्राप्त हो जाय तो उसका कार्य सरल हो जाता है। कला-काल में महाकवि केशवदास ऐसे ही कवि-आचार्य हैं जिन्होंने सामान्य व्यक्तियों के लिए वर्णन-शैली का अगाध रहस्य 'कवि-प्रिया' ग्रन्थ लिख कर स्पष्ट कर दिया है। तीसरे प्रभाव के प्रारम्भिक दोहे में ही उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है :—

समुझैं बाला बालकन, वर्णन पन्थ अगाध।
कवि प्रिया केशव करी, छमियहु कवि अपराध॥

यों तो वर्णन की विविधता कवि की प्रतिभा और उसकी रुचि पर निर्भर करती है किन्तु यदि एक सामान्य शैली या परिपाटी का निर्देश कर दिया जाय तो इससे काव्य-जगत् में एक सुविधा तो हो ही जाती है। महान् प्रतिभा के कवि किसी निश्चित लीक पर न चल कर अपनी विशिष्ट अन्तर्दृष्टि से वस्तु-जगत् का चाहे जैसा वर्णन करें किन्तु सामान्य दृष्टि या प्रतिभा के कवियों को एक सहज पंथ की दिशा प्राप्त हो जाती है जिस पर चलकर वे काव्य-जगत् में प्रवेश पा सकते हैं। इसलिए 'कवि-प्रिया' में केशवदास ने वर्णन को बहुत महत्ता प्रदान की है। उन्होंने इसे एक अलंकार के रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने दो प्रकार के अलंकार कहे हैं, सामान्य और विशिष्ट। सामान्यालंकार के जो चार भेद हैं, उनमें उन्होंने वर्ण, वर्ण्य, भूमिश्री और राज्यश्री की गणना की है। वस्तुतः ये चारों भेद विविध प्रकार के वर्णनों से ही सम्बन्ध रखते हैं। ये वर्णन प्रत्येक वस्तु के रूप, गुण, स्वभाव और प्रभाव का एक सामान्य परिचय देते हैं जिससे उनके काव्य-मय चित्रण की एक परि-पाटी-सी स्थिर हो जाती है। इस परिपाटी से बाहर जाने का अधिकार प्रत्येक कवि

को है किन्तु काव्य की शोभा इस परिपाटी का अनुसरण करने पर भी प्राप्त हो जाती है। इस परिपाटी का एक सामान्य रेखा-चित्र निम्न प्रकार से है :—

काव्य में निम्नलिखित सात वर्ण ही शुभ माने जाते हैं :—

श्वेत, पीत, श्याम, अरुण, धूम्र, नील और मिश्रित। इन रंगों का आश्रय किन-किन वस्तुओं को प्राप्त होता है इसकी एक मनोरंजक सूची इस प्रकार है :—

(१) **श्वेत**—कीर्ति, इन्द्र का घोड़ा, शरद-घन, ज्योत्स्ना, जरा, मंदार पुष्प, हरि, हर, कैलाश, सूर्य, चन्द्र, अमृत, कपूर, बलराम, बक, हीरा, केवड़ा, कौड़ी, ओला, कांस, कुन्द, केचुल, कमल, बर्फ, बालू, भस्म, कपास, शक्कर, हड्डी, निर्झर, चँवर, चन्दन, हंस, कमल की जड़, छत्र, सतयुग, दूध, दही, शंख, सिंह, तारे, शेषनाग, पुण्य, सतोगुण, सज्जनों का मन, हास्य, सीप, चूना, अबरक, स्फटिक, खड़िया, फेन, प्रकाश, शुक्र, सुदर्शन, गंगा, ऐरावत, उच्चैःश्रवा, नारद, पारा, निर्मल जल और शारदा।

(२) **पीत**—गरुड़, ब्रह्मा, शिव की जटा, हलदी, हरताल, चंपक, दीपक, वीर रस, वृहस्पति, मधु, इन्द्र, सुमेरु पर्वत, भूमि, गोरोचन, गंधक, गो-मूत्र, चक्रवाक, मैनसिल, द्वापर, युग, वानर का बच्चा, कमल-कोष, कृष्ण का पीताम्बर, केसर, स्वर्ण, मैना का मुख, बिजली, दिन, पीतल और पराग।

(३) **श्याम**—विन्ध्य पर्वत, वृक्ष, आकाश, तलवार, अर्जुन, खंजन, सर्प, शिव-कण्ठ, शनि, व्यास, विश्वासघाती, पाप, राक्षस, अगरु, लंगूरमुख, राहु, छाया, नशा, कठोर ध्वनि, श्रीराम, बादल, द्रौपदी, समुद्र, असुर, अन्धकार, चोर, जामुन, यमुना, तैल, तिल, दुष्टों का हृदय, नील कमल, चीर, भील, हाथी, वन, नर्क, स्याही, कस्तूरी, कज्जल, भ्रमर, रात्रि, शृंगार रस, कालिका, कृत्या, शूकर, अपयश, रीछ, कलंक, कलियुग, आँखों की पुतली, अग्नि-मार्ग, किसान में लोभ, क्षोभ, दुःख, द्रोह, विरह, यशोदा, गोपिका, कोकिल, भैंस, लोहा, काँच, कीचड़, बाल, कामदेव, निकृष्ट वस्तु, मयूर, कौआ, कुरूप, कलह, छुद्र, छल, और कृष्ण का रूप।

(४) **अरुण**—वीर-वहूटी, खद्योत, मंगल ग्रह, केसर, लाल कुसुम, श्रीगणेश, बाल रवि, ताँबा, तक्षक, जिह्वा, ओंठ, आँख का कोण, मांस, मुर्गे की चोटी, माणिक, सारस का सिर, शुक की चोंच, बन्दर

का मुख, कोकिल, नीलकंठ, चकोर, पपीहा, कबूतर के नख और आँखें, हँस की चोंच और चरण, पका हुआ कुँदरू, जवाकुसुम, अनार का फूल, किंशुक, कमल, अशोक, अग्नि, पान, लाल चन्दन, रौद्र रस, क्षत्रिय का धर्म, मंजीठ, सूर्य-सारथी, महावर, रुधिर, नख, गेरू और संध्या।

(५) **धूम्र**—कौए का गला, गधा, चुहिया, छिपकली, हाथी का बच्चा, कबूतर, धूँमर गाय और धूल।

(६) **नील**—दूब, बाँस, नील कमल, नीली नलिन, वायु, व्योम, तृण, केश, नीलम, सूर्य के घोड़े और शैवाल।

(७) **मिश्रित**—श्लेष के आधार पर एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न रंगवाले पदार्थ व्यंजित होते हैं। उदाहरण के लिए 'हंस' शब्द है। 'हंस' का एक अर्थ है हंस पक्षी जिसका रंग श्वेत है और दूसरा अर्थ है सूर्य जिसका रंग अरुण है। इसी प्रकार अन्य रंगों के बोध भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा संदर्भानुसार श्लेष के द्वारा प्राप्त होते हैं।

वर्ण्य-वर्णन से केवल वस्तु के वर्णन करने की परिपाटी ही लक्षित होती है। किस वस्तु को किस प्रकार वर्णित किया जाय! इस प्रकार के २८ वर्ण्यालंकार महाकवि केशव ने माने हैं। उनका परिचय इस प्रकार है :—

(१) **सम्पूर्ण**—जो वस्तु सम्पूर्ण ही वर्णन की जाती है जैसे—कमल, मुख, दर्पण, प्रेम और प्रकाश।

(२) **आवर्त्त**— जो वस्तु चक्कर लगाकर अपने स्थान पर वापस आ जाती है। जैसे—चकरी, चक्र, कोयले की अग्नि, छतरी और सान चढ़ाने का पहिया।

(३) **कुटिल**— जो टेढ़ी ही वर्णन की जाती है जैसे—अलक, झूठ, भौंह, बाँस की टहनी, किंशुक, शुक-मुख, सर्प, कटाक्ष, धनुष, बिजली, कंकण का टूटा टुकड़ा, केश, चन्द्रिका, आभूषण, द्वितीया का चन्द्र, सिंह-नख, शूकर-दन्त, और कुदाल।

(४) **त्रिकोण**—जो सदैव त्रिकोण वर्णित होते हैं जैसे शकट (गाड़ी), सिंघाड़ा, वज्र, हल, शिव के नेत्र और अग्नि-कुण्ड।

(५) **सुवृत्त**— जो गोल ही कहे जाते हैं जैसे बेल, गुच्छा, बैल के कंधे, रथ के अंग, हाथी का मस्तक, उरोज, अंडा, गेंद और कलश।

(६) **तीक्ष्ण**— जैसे नख, कटाक्ष, बाण, दुर्वचन और शस्त्रादि।

(७) **गुरु**— जैसे उरोज, नितम्ब, गुण, लज्जा, मति और रति।

(८) **कोमल**— जैसे पल्लव, कुसुम, दयालु मन, माखन, मोम; कमल की जड़, रेशम, रेशमी वस्त्र, जिह्वा, पद, प्रेम और पुण्य।

(९) **कठोर**— जैसे उरोज, भुज-दण्ड, मणि, वज्र, धातु, हड्डी, हीरा, वियोगी का मन और चित्त, वीर का शरीर, कंजूस का मन, लकड़ी, कछुए की पीठ, सूखा चर्म, दुष्टों का हठ और दुर्जनों की दृष्टि।

(१०) **निश्चल**—जैसे सती, युद्ध का वीर और संतों का मन।

(११) **चंचल**— जैसे घोड़ा, हरिण, बादल, पीपल का पत्ता, लोभियों का मन, कायर, बालक, समय की गति, कुलटा, कुटिल कटाक्ष, मन, स्वप्न, यौवन, मछली, खंजन, भ्रमर, हाथी के कान, लक्ष्मी, बिजली और वायु।

(१२) **सुखद**— जैसे बुद्धिमान् पुत्र, पतिव्रता स्त्री, विद्या, स्वस्थ शरीर, अभिलषित सम्पत्ति और मित्र, दान, मान, धन, प्राप्ति, जप, राग, उपवन, घर, सौन्दर्य, पुण्य; सौम्य स्वभाव और सर्वज्ञता।

(१३) **दुखद**— जैसे पाप, पराजय, झूठ, हठ, दुष्टता, मूर्ख मित्र, माँगनेवाला ब्राह्मण, कुरूपता, असहनशील चरित्र, मानसिक रोग, शारीरिक रोग, अपमान, ऋण, दूसरे के घर में भोजन और निवास, कन्या सन्तति, बुढ़ापा, वर्षा-काल में प्रवास, दुष्ट मनुष्य, कुस्वामी, बुरी चाल का घोड़ा, बुरे नगर में रहना, बुरी स्त्री, पराधीनता, दारिद्र्य और शत्रुता।

(१४) **मन्दगति**—जैसे कुलवती स्त्री, हास-विलास, बुद्धिमान, काम, क्रोध, शनि, गुरु, सारस, हंस, हाथी और स्त्री की चाल।

(१५) **शीतल**— जैसे चन्दन, दाख, तरबूज, ओला, मिश्री, मित्र, प्रिय-मिलन, कपूर, चन्द्रमा, जल, कमल, बर्फ और शीत।

(१६) **तप्त**— जैसे शत्रु का प्रताप, दुर्वचन, तप, विरह, संताप, सूर्य, अग्नि, वज्राग्नि, दुःख, तृष्णा, पाप और विलाप।

(१७) **सुन्दर**— जैसे नल, नलकूबर, अश्वनीकुमार, प्रद्युम्न, कामदेव, दमयंती और सीता।

(१८) **क्रूर-स्वर**—जैसे झींगुर, सर्प, उल्लू, बकरा, भैंस, सुअर, भेड़, कौवा, भेड़िया, ऊँट, गधा और कुत्ता।

(१९) **सु-स्वर**— जैसे कबूतर, मोर, कोकिल, शुक, मैना, हंस, वीणा और सुकंठ।

(२०) **मधुर**—प्रिया के ओष्ठ, चन्द्रमा की किरणें, मक्खन, दाख, बालक की तोतली बोली, कवि-उक्ति, महुआ, मिश्री, दूध, घी, शृंगार रस, ऊख, शहद, और अमृत ।

(२१) **अबल**—जैसे लँगड़ा, गूँगा, रोगी, वणिक, डरा हुआ, भूखा, अंधा, अनाथ, बकरी का बच्चा और अबला ।

(२२) **बलिष्ठ**—जैसे वायु, हनुमान, परमेश्वर, इन्द्र, कामदेव, भीम, बालि बल-राम, बलि, राजा पृथु, काल, सिंह, वाराह, हाथी, गुरु, शेष, सती स्त्रियाँ, गरुड़, वेद, माता-पिता और प्रारब्ध ।

(२३) **सत्य**—जैसे चारों वेद का मनसा, वाचा, कर्मणा विचार, भाग्य और भगवान ।

(२४) **झूठ**—समस्त संसार ।

(२५) **मंडलाकार**—जैसे कुंडल, मुद्रिका, चूड़ी, कड़ा, आल-बाल, परिवेश और सूर्य मंडल ।

(२६) **अगति**—जैसे सिन्धु, पहाड़, ताल, पेड़, बावली और कूप ।

(२७) **सदा गति**—जैसे महानदी, नद, पंथ, जग और पवन ।

(२८) **दानी**—पार्वती, शंकर, गणेश, ब्रह्मा, सूर्य, चिन्तामणि, कल्पवृक्ष, कामधेनु, लक्ष्मी, नारायण, श्रीरामचन्द्र, श्रीहरिश्चन्द्र, नल, परशुराम, दधीचि, पृथु, बलि, विभीषण, कर्ण, राजा भोज, राजा विक्रमादित्य, राजा रणधीर जगदेव (महाकवि केशवदास के आश्रयदाता के बड़े भाई) इन्द्रजीत और बीरबल ।

इन अट्ठाइस वर्ण्यालंकारों में महाकवि केशव ने कुछ प्रसिद्ध और स्पष्ट वस्तुओं और व्यापारों को ही सम्मिलित किया है। यह केवल एक संकेत है। प्रतिभाशाली कवियों की कल्पना और भावना ऐसे अनेकानेक उदाहरणों का संयोजन कर सकती है।

साम्रान्यालंकार में तीसरा प्रकार भूमि-श्री का है। इसमें उन समस्त वस्तुओं के वर्णन का संकेत है जिनसे भूमि श्री-सम्पन्न है। इस भूमि-श्री के अन्तर्गत देश, नगर, वन, बाग, पर्वत, आश्रम, नदी, तालाब, सूर्य, चन्द्र, सागर और ऋतुएँ आदि बारह अंग हैं। प्रत्येक अंग में किन-किन बातों का वर्णन होना चाहिए, इसकी संक्षिप्त सूची इस प्रकार है :—

(१) **देश में**— रत्नों की खान, पशु, पक्षी, धन, वस्त्र, सुगन्ध, वेश-विन्यास, नदी, नगर, दुर्ग तथा भाषा ।

(२) **नगर में**—खाई, कोट, अट्टालिका, ध्वजा, बावली, कुँआ, तालाब, वेश्या, असती और सती ।

(३) **वन में**— चमरी गाय, हाथी, जंगली पशु, भूत, प्रेत, भीलों का निवास, लताएँ, पेड़ और दावाग्नि ।

(४) **बाग में**—ललित लताएँ, पेड़, कुसुम, कोकिल, कबूतर, मयूर तथा भ्रमर ।

(५) **पर्वत में**—ऊँची-ऊँची चोटियाँ, गहरी गुफाएँ, सिद्ध, वन-बालाएँ, धातु, देवता, मनुष्य, ओषधि तथा निर्झर का प्रवाह ।

(६) **आश्रम में**—धूम-मंडित होम, वेद-पाठ, मुनियों का निवास, सिंह और मृग, मोर और सर्प की शत्रुता का विनाश ।

(७) **नदी में**— जल-जीव, हाथी, घोड़े, कमल, किनारे पर बने हुए यज्ञ-कुंड तथा मुनियों का निवास, स्नान और दान ।

(८) **तालाब में**—सुन्दर लहरें, पक्षी, पुष्प, पशु, सुगंधित वायु, तमाल, हाथियों के बच्चों की क्रीड़ा, यात्री तथा जलचरों का वर्णन ।

(९) **सूर्य**— उदय की लालिमा, जल की पवित्रता, मुनियों के द्वारा वेद और शंख-ध्वनि, मार्ग चलना, चक्रवाक और कमल के कष्ट का विनाश कुमुदिनी और कुलटा स्त्रियों का दुःख, तारा, ओषधि, दीपक, चन्द्रमा, उल्लू, चोर और अन्धकार की हानि ।

(१०) **चन्द्र**— उदय से चक्रवाक, कमल, विरही, अन्धकार, मानिनी नायिका और कुलटाओं का दुःख तथा कुबलय, समुद्र और चकोर पक्षी को सुख ।

(११) **सागर में**—ऊँची लहरें, गंभीरता, रत्न, कमल, अनेक जन्तु, गंगा का संगम, देवताओं की स्त्रियाँ, अनेक प्रकार के यान और विमान, पर्वत, बड़वाग्नि, चन्द्रोदय, सर्प, देवता तथा राक्षसों का घर ।

(१२) **ऋतु में**—

वसन्त— सुन्दर पुष्प, भ्रमर, विरह से हृदय का विदीर्ण होना, कोकिल का कूजन, सुन्दर वन तथा कोमल सुगंधित समीर का प्रवाह ।

ग्रीष्म— गर्म और चंचल वायु, लोगों के मुख, नदी और तालाब की शुष्कता, जल-थल के जीवों की अशक्तता और विकलता, आम की परिपक्वता ।

वर्षा— हंसों का मानसरोवर की ओर प्रस्थान, बक, दादुर, चातक, मोर, केतकी पुष्प, कदम्ब, वर्षा, बिजली, भीषण मेघ-ध्वनि ।

शरद— आकाश की निर्मलता, चन्द्रिका का शुभ्र प्रकाश, कमल, काँस, पथिक, पितरों का प्रस्थान, राजाओं के अभियान ।

हेमन्त— तेल, कपास, तांबूल, स्त्री, अग्नि और सूर्य की धूप का अच्छा लगना, रति-प्रियता, रात्रि की दीर्घता और दिन की लघुता, तथा शीत ।

शिशिर— राजाओं से लेकर रंकों तक की प्रसन्नता, नाचना, गाना, हँसना तथा रात-दिन की क्रीड़ा ।

इस प्रकार भूमि-श्री में सामान्य रूप से सृष्टि के समस्त कार्य-व्यापार और नर-नारियों का मनोराग अधिक से अधिक आकर्षण के साथ वर्णित हुआ है ।

चौथा प्रकार राज्य-श्री के वर्णन का है। राज्य-श्री के प्रमुख अंगों का चित्रण निम्न प्रकार से है :—

राज्य-श्री के अन्तर्गत राजा, रानी, राजकुमार, पुरोहित, दल-पति, दूत, मंत्री, सम्मति और परामर्श, रण-यात्रा, घोड़े, हाथी, युद्ध, आखेट, जल-कीड़ा, वियोग, स्वयंबर और सुरति आदि सम्मिलित हैं। प्रत्येक की विशेषताओं का भी उल्लेख है :—

राजा— प्रजा का ध्यान, दृढ़ प्रतिज्ञा, पुण्य करने की प्रवृत्ति, धर्म, प्रताप, प्रसिद्धि, शासन, शत्रुओं का नाश, बल और विवेक की वृद्धि, दंड, अनुग्रह, धीरता, सत्य, शूरता, दान, कोष, देश, उद्यम तथा क्षमा ।

रानी— सुन्दरी, सुखद, पतिव्रता, अच्छी रुचि, शीलवती, आत्म-सम्मान-सम्पन्न, लज्जाशीला और बुद्धिमती ।

राजकुमार—विविध विद्याओं से पूर्ण, विनोदी, शीलवान्, आचारवान्, सुन्दर, शूर, उदार और सामर्थ्य-युक्त ।

पुरोहित— राजा का हितैषी, वेदज्ञ, सत्यवक्ता, पवित्र, उपकारी, ब्रह्मविद्, सरल स्वभाव और जितेन्द्रिय ।

दलपति— स्वामि-भक्त, परिश्रमी, बुद्धिमान, निर्भय, आलस्य-रहित, जन-प्रिय, यशस्वी और युद्ध में अजेय ।

दूत— अपने राज्य की उन्नति और शत्रु-राज्य की अवनति चाहने वाला, संकेत समझने वाला, समय की गति पहिचानने वाला और लालच-हीन ।

मंत्री— राजनीति में निष्णात, राज-भक्त, सर्वज्ञ, कुलीन, क्षमाशील, शूर, शील-सम्पन्न तथा सम्मति देने में प्रवीण।

सम्मति और परामर्श—

राजनीति के पाँच अंग—साहाय्य, साधन, उपाय, देश-ज्ञान, काल-ज्ञान।

सम्पर्क के छः अंग—संधि, विग्रह, यान, आसन, द्विविध माप और आश्रयदान।

विद्या के चौदह अंग—ब्रह्म-ज्ञान, रसायन, स्वर-ज्ञान, वेद-पाठ, ज्योतिष, व्याकरण, धनुर्वेद, जल-संतरण, वैद्यक, कृषि, कोक-शास्त्र, अश्वारोहण, नृत्य और समाधान-योग्यता, भूत, वर्तमान और भविष्य की पहिचान।

रण-यात्रा— चँवर, पताका, छत्र-रथ, दुंदुभि की ध्वनि, अनेक प्रकार की सवारियाँ, जल, थल, भूकम्प और धूल-धूसरित वातावरण।

घोड़े— चपलता, तीखापान, द्रुत गति, अच्छा मुख, थोड़ी अवस्था का, उत्तम देश का, अच्छे वेश का तथा अच्छे लक्षण वाला।

हाथी— मतवाला, महावत के वश में, मन्द गति, चंचल कानों वाला, गज-मुक्ता सम्पन्न, सुन्दर कुम्भ, शुभ, सुन्दर, नयनाभिराम।

युद्ध— सेना, कोलाहल, कवच, उड़ती हुई धूल, साहस, शस्त्र का प्रहार, अंग-भंग, योद्धाओं का भिड़ना, अंधकार, कटे हुए सिर के धड़ योगि-नियों के साथ महादेव, रुधिर से सनी हुई भूमि, सरोवर और समुद्र।

आखेट— जुर्रा, बहरी, बाज, चीता, कुत्ता, सचान, सहर, बहेलिया, भील, नील वस्त्र का परिधान, बन्दर, बाघ, वाराह, मृग, मछली आदि तथा अन्य वन्य जन्तुओं का वध, फँसाना और वेधना आदि।

जल-क्रीड़ा—सरोवर, कमल, शुभ शोभा, प्रियतम के हृदय से मिल कर डुबकी लगाना, छोड़े हुए आभूषणों को जल के नीचे तक पहुँचने के पहले ही पकड़ लेना तथा जलचरों की भाँति जल-क्रीड़ा।

वियोग— साँस, रात्रि और चिन्ता की वृद्धि, रुदन और प्रतीक्षा, काला-पीला, कृश, उष्ण और शीत शरीर, भूख-प्यास और सुध-बुध का घटना, सुख, निद्रा और शरीर की कान्ति की हानि तथा सुख देने वाली वस्तुओं का दुःखद होना।

स्वयंवर— स्वयंवर की रक्षिणी इन्द्राणी, मंडलाकार मंच, राजा-रावों के रूप, पराक्रम, वंश और गुणों का वर्णन।

सुरति— सात्विक भाव, उस समय के अस्फुट बोल, बिछुओं का शब्द, हाव-भाव, बाह्य और अन्तः रति, शरीर की निर्लज्जता और लज्जा दोनों का वर्णन।

महाकवि केशवदास ने काव्य की इस परिपाटी में अधिकतर रस का उद्रेक करने वाली सामग्री का ही उल्लेख किया है। जिन वस्तुओं और परिस्थितियों से किसी विशिष्ट सन्दर्भ में किसी विशिष्ट रस की निष्पत्ति हो सकती है, वे ही कवि की दृष्टि में इस सामान्यालंकार के अन्तर्गत उल्लिखित हैं।

महाकवि केशव के आचार्यत्व का प्रमाण इस अलंकार में एक नये संदर्भ में प्राप्त होता है। इस अलंकार के माध्यम से कवि ने अलंकार और रस पर एक सेतु का निर्माण किया है। अलंकार और रस इसी संधि-बिन्दु पर आकर मिलते हैं। इस भाँति शताब्दियों से अलंकार और रस के सिद्धान्तों में जो अलगाव रहा है, वह केशव के इस सामान्यालंकार से दूर हो गया है। इस परिपाटी का यही विशेष महत्त्व है। यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि इस परिपाटी द्वारा काव्य की विषय-वस्तु को सीमित अथवा सीमा-बद्ध नहीं किया गया है, वरन् सामान्य कवियों के लिए ऐसी भाव-भूमि उपस्थित की गई है, जिससे वे काव्य-जगत् में प्रवेश कर अपनी प्रतिभा से अन्य-अन्य वस्तु और व्यापारों का उद्घाटन कर सकें। काव्य के नियम काव्य की स्वच्छन्दता पर प्रश्न-चिह्न नहीं लगाते, वे केवल काव्य को व्यवस्थित करने की दृष्टि से ही निर्धारित होते हैं। यदि नियम न हों तो उच्छृंखलता की प्रवृत्ति को प्रश्रय मिलता है, इसलिए काव्य के नियम काव्य की असीम अभिव्यक्ति के बाधक नहीं, साधक हैं।

इस संदर्भ में एक भय अवश्य है और वह यह कि यदि किसी वस्तु के लिए कोई विशिष्ट उपमान निर्धारित हुआ तो वह कवियों के द्वारा इतना प्रयुक्त हो जाता है कि उसका भाव-चमत्कार और उसकी नवीनता तक नष्ट हो सकती है। उदाहरण के लिए सौन्दर्य अथवा सुन्दर अंगों के लिए 'कामदेव' का उपमान। कवियों द्वारा कामदेव इतना घिसा गया है कि वह इस प्रकार घिसने से ही अनंग हो गया होता, भगवान् शंकर को उसके जलाने के लिए तीसरे नेत्र को खोलने का कष्ट न उठाना पड़ता। 'अंग-अंग पर वारिए, कोटि कोटि शत काम।' में कवि ने करोड़ों अनंगों की सृष्टि तक कर डाली। महाकवि तुलसीदास ने तो मछलियों की गति में भी कामदेव महाराज को समेट लिया। सीता के स्वयंवर में कवि ने सीता के नेत्रों का वर्णन करते हुए लिखा :—

प्रभुहिं चितै पुनि चितै महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग, जनु विधु-मंडल डोल॥

का) बाण मारा, उस समय गूंगा (ईश्वरानुभूति में मौन व्यक्ति) तो बहरा (सांसारिक शब्दों की ओर ध्यान न देने वाला) हो गया और बहरा (ईश्वरीय संदेश न सुनने वाला) कान सहित (गुरु के उपदेश को सुनने वाला) हो गया। चलने वाला (संसार के तीर्थों का पर्यटन करने वाला) भी पंगुल (एक ही स्थान पर स्थिर) हो गया।

इस भाँति प्रतीक शैली से कबीर ने न जाने कितने गूढ़ार्थों को व्यक्त किया है। सगुण उपासना के कवियों ने भी अनेक प्रतीकों का आश्रय लेकर अपनी भक्तिमयी प्रवृत्तियों का निरूपण किया है। महाकवि सूरदास ने 'भ्रमर-गीत' में भ्रमर को संबोधित कर न जाने विरह की कितनी अनुभूतियाँ उद्धव से निवेदन की हैं। भ्रमर के रूप और गुणों में गोपियों ने कृष्ण और उद्धव की प्रतिष्ठा कर उसके ब्याज से अपना आत्म-निवेदन वैसा ही स्पष्ट किया है जैसा कोई भी पुष्टिमार्गी-भक्त अपने आराध्य के समक्ष अपनी पुष्टि-भक्ति प्रदर्शित करता है। महाकवि तुलसीदास ने भी चातक को प्रेम का सर्वोत्कृष्ट प्रतीक मान कर अपने आराध्य राम के प्रति अपना अनन्य प्रेम प्रकट किया है :—

बरषि परुष पाहन पयद्, पंख करौ टुक टूक।
तुलसी परी न चाहिए, चतुर चातकहि चूक।।
उपल बरषि, गरजत तरजि, डारत कुलिश कठोर।
चितौ कि चातक मेघ तजि, कबहुँ दूसरी ओर ?

[illegible]ल में कवि-परिपाटी और रूपक-योजना में प्रतीकों की सबसे अधिक अभिव्यक्ति हुई है। परम्परागत मान्यता को स्थिर करते हुए उससे एक विशिष्ट अर्थ की उपलब्धि अनेक कवियों द्वारा प्राप्त हुई। उदाहरण के लिए हंस के द्वारा नीर-क्षीर अलग करने की बात मान कर सत्यासत्य के निर्णय में नीर-क्षीर विवेक की बात ही स्थिर हो गई। इसी प्रकार रूपक-योजना में यश का रंग श्वेत और अनुराग रंग अरुण मान कर अनेक चित्र उपस्थित किये गये। प्रकृति की अनेक वस्तुएँ अपने गुणों के कारण सौन्दर्य की उपमान-राशि में सुसज्जित होकर कवियों की लेखनी की शोभा बनीं। मीन, मृग और कमल नयनों के उपमान बने, भ्रमर और व्याल काले केशों की शोभा के लिए प्रयुक्त हुए, केहरि की कटि की समानता प्रेयसि की क्षीण कटि से की गई और गंभीर और मन्द चाल के कारण सुन्दरी को गज-गामिनी कहा गया। इन उपमानों का प्रयोग अनेकानेक कवियों के द्वारा न जाने कितनी बार किया गया और कालान्तर में इनके द्वारा सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के स्थायी रूप प्रदान करने की चेष्टा की गई।

प्रतीक-योजना के प्रमुख तत्त्वों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रतीकों का उपयोग किन-किन अवस्थाओं में किया गया है। यह भी ज्ञात हो जायगा

कि प्रतीक-योजना का विकास किस प्रकार हुआ है। यह देखा जा चुका है कि प्रतीक-योजना का उद्भव अनुभूति की सबल और अधिक व्यंजनात्मक अभिव्यक्ति के लिए ही हुआ। विस्मय की भावना और आनन्द की कामना का योग प्रतीकों के प्रयोग में अन्तर्निहित है। प्रतीकात्मक शैली की अपनी विशेषताएँ हैं और इन विशेषताओं में रस और अलंकार की सहायता से आनन्द और चमत्कार की सृष्टि हो जाती है। प्रतीकात्मक शैली को निम्नलिखित छः वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, इन्हीं अवसरों पर प्रतीकात्मक शैली का उपयोग किया जाता है :—

(१) सौन्दर्यात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए,
(२) किसी भाव के म[illegible]म्य से चमत्कार उत्पन्न करने के लिए,
(३) दार्शनिक भाव-धारा की अभिव्यक्ति के निमित्त,
(४) रहस्यात्मक अनुभूति की परस्पर विरोधी (उलटबाँसियों के रूप में) अभिव्यक्ति के अवसर पर,
(५) कवि-सत्य को आदर्श रूप देने के लिए तथा
(६) मनोवैज्ञानिक भावना के क्षेत्र-विस्तार के लिए।

संक्षेप में इन विभिन्न वर्गों की व्याख्या की जा सकती है। सौन्दर्यात्मक अनुभूति अपनी अभिव्यक्ति के लिए ऐसे दो शब्दों का आश्रय लेती है जो उपमेय या वस्तु से पूर्ण समानता रखते हैं किन्तु वे सौन्दर्य की अनुभूति में सहायक हो जाते हैं। जैसे—

कहत सबै बेंदी दिये, आँकु दस गुनौ होतु।
तिय लिलार बेंदी दिये, अगनित बढ़तु उदोत॥

दूसरे प्रकार में एक शब्द-चित्र का निर्माण होता है। यह शब्द-चित्र कुछ शब्दों और अलंकारों की सहायता से ऐसे भाव की व्यञ्जना करता है, जो ऊपर से तो दिखलाई नहीं देता किन्तु व्याख्या करने पर सहज चमत्कार और आनन्द की सृष्टि करता है। जैसे—

दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति।
परत गाँठ दुरजन हिए दई नई यह रीति॥

तीसरे प्रकार में दार्शनिक दृष्टिकोण है। जब दर्शन साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश करता है तो किसी दूसरे प्रकार के शब्द-भांडार की आवश्यकता होती है। इसके लिए अन्य प्रकार के रूपकों का प्रयोग किया जाता है जो प्रकृति के सजीव और जड़ तत्त्वों से किसी दार्शनिक अनुभूति की अभिव्यक्ति के हेतु लिए जाते हैं। जैसे—

तजि तीरथ, हरि राधिका तन दुति करि अनुराग।
जिहि ब्रज-केलि निकुंज मग, पग-पग होतु प्रयागु ॥

चौथे प्रकार में एक रहस्यात्मक अनुभूति होती है। व्यक्तिगत दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रेम के क्षेत्र में अभिन्न एकरूपता के जिस आनन्द की सृष्टि होती है, उसे 'रहस्यवाद' की संज्ञा दी जाती है। यह रहस्यात्मक अनुभूति इन्द्रिय-जन्य मात्र नहीं होती, वह तो सहज अनुभूति है, जिसमें कार्य-कारण सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं रहता। इस अनुभूति की अभिव्यक्ति में जिन रूपकों का प्रयोग किया जाता है वे कार्य-कारण सम्बन्ध से मुक्त होने के कारण परस्पर विरोधी तक हो जाते हैं, इसीलिए रहस्यात्मक अनूभूति की अभिव्यक्ति शैली 'उलटबाँसी' कहलाती है। वस्तु या कार्य के व्यापार भले ही विरोधी हों किन्तु उनकी संगति सार्थक हो जाती है। जैसे—

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों-ज्यों डूबे स्याम रँग, त्यों-त्यों उज्ज्वल होय ॥

पाँचवें प्रकार में जब प्रतीकों का प्रयोग आदर्श की सिद्धि के लिए होता है तो उन सब विषयों का वर्गीकरण किया जाता है जो किसी गुण के लिए प्रयुक्त हो सकें। वस्तु और गुण इतने अधिक समान होते हैं कि दोनों एक दूसरे के लिए प्रयुक्त हो जाते हैं। इससे साहित्यिक अभिव्यक्ति में सौन्दर्य और संक्षिप्तीकरण दोनों ही की एक साथ सृष्टि हो जाती है। जैसे--

पट पाँखें भखु काँकरे, सदा परेई संग।
सुखी परेवा जगत में, एकै तुही विहंग ॥

छठा और अन्तिम प्रकार मनोवैज्ञानिक भावना के क्षेत्र-विस्तार के लिए है। जब काव्यात्मक शैली के द्वारा बाह्य जगत् का चित्र प्रस्तुत किया जाता है तो चित्रित वस्तुएँ अपनी पार्थिवता त्याग कर सूक्ष्म रूप में ही हमारे समक्ष आती हैं। ऐसे संदर्भों में प्राय: श्लेष अलंकार का प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए :—

दूरि भजत प्रभु पीठ दै, गुन विस्तारन काल।
प्रगटत निर्गुन निकट रहि, चंग रंग भूपाल ॥

कला-काल में साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकात्मक शैली को एक सबल माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया है। संस्कृति और सभ्यता के सन्दर्भ में भी यह शैली अधिक परिपुष्ट होकर सौन्दर्यात्मक अनुभूति को साहित्य के पृष्ठों पर उतारती रही है। कला-काल अपने समक्ष सौन्दर्य को ही प्रधान मान कर अग्रसर हुआ है, इस कारण इस काल के काव्य में प्रतीकात्मक शैली का अधिकाधिक प्रयोग

होना स्वाभाविक ही है। काव्य में अनेक अर्थालंकार प्रतीकात्मक रूप ही लेकर आए हैं जिनमें भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से साहित्य के क्षेत्र में चमत्कार की सृष्टि हुई है। इन प्रतीकों में प्रकृति से अनन्त सामग्री संग्रहीत हुई है और उपमानों के लिए तो जैसे प्रकृति ने अपना समस्त कोश ही उद्‌घाटित कर दियाँ है। रूपक-योजना में जहाँ वस्तु के अनेकानेक रूप चित्रित हुए हैं, वहाँ जीव-जगत् और प्रकृति-जगत् एक दूसरे के अत्यन्त समीप आ गए हैं और प्रतीक-शैली ने दोनों को जोड़ते हुए एक सेतु का निर्माण कर दिया है।

इन प्रतीकों का प्रयोग संख्या के क्षेत्र में भी हुआ है। इस सन्दर्भ में प्रकृति के साथ धर्म और दर्शन का भी योग हो गया है। धर्म और दर्शन की किन्हीं विशिष्ट मान्यताओं को संख्या से जोड़ कर हमारे चिन्तन के क्षेत्र को अधिक विस्तार दे दिया गया है। उदाहरण के लिए संख्याओं के प्रतीक निम्नलिखित हैं :—

शून्य— आकाश।
एक— ब्रह्म, चन्द्र, भूमि, गणेश-दन्त, शुक्र-नेत्र, मन, गज-मुक्ता।
दो— पक्ष, सरिता-तट, नेत्र, भुजा, अयन, उरोज, असि-धारा, श्रुति, राम-पुत्र, गज-दन्त, रथ-चक्र, सारस।
तीन— राम, काल, शिव-नेत्र, अग्नि, ताप, गुण, लोक, काण्ड।
चार— ब्रह्मा-मुख, पदार्थ, आश्रम, वर्ण, युग, वेद, अवस्था, हरि-भुजा, सुर-पति, हस्ति।
पाँच— पाण्डव, यज्ञ, कन्या, भूत, गव्य, प्राण, शिव-मुख, तत्त्व, महा पाप, गति, वर्ग, कामदेव के बाण, इन्द्रियाँ।
छः— दर्शन, अलि-पद, राग, रस, ऋतु, कार्तिकेय के मुख, ईति, शास्त्र, चक्र।
सात— मुनि, रवि-तुरंग, वार, ताल, स्वर, लोक, गिरि, पाताल, अग्नि-शिखा, द्वीप, सिन्धु, पुरी, राज्यांग।
आठ— योग, दिग्गज, याम, वसु, सिद्धि, अहि, व्याकरण, विधि, श्रुति।
नव— निधि, अंग-रन्ध्र, ग्रह, अंक, भक्ति, भू-खण्ड, दुर्गा, नाड़ी, द्रव्य, नाथ।
दस— दिशा, दशा, दोष, इन्द्रिय-द्वार, रावण के मस्तक, अवतार, महा विद्या।
ग्यारह— रुद्र।
बारह— सूर्य राशि, क्रान्ति, मास।

तेरह— नदी, किरण, परम भागवत, पान-गुण।
चौदह— रत्न, विद्या, भुवन, मनु, इन्द्र, यम।
पन्द्रह— तिथि।
सोलह— शृंगार, कला, संस्कार, विशुद्ध चक्र।
सत्रह— बुध-वर्ष (ज्योतिष में)
अट्ठारह—पुराण, राहु-वर्ष (")
उन्नीस— शनि-वर्ष (")
बीस— शुक्र-वर्ष ("), नख, रावण-भुजा, मनुष्य की उँगलियाँ।

बीस के उपरान्त क्रम न होकर विशिष्ट संख्याओं के प्रतीक दिए गए हैं। जैसे—

इक्कीस—नाडियाँ
चौबीस—एकादशी
पच्चीस—प्रकृति
तीस—मास-दिन
बावन—अक्षर
साठ—नस
अड़सठ—तीर्थ
बहत्तर—कोष्ठ
चौरासी—सिद्ध

जब अधिक संख्याओं को सूचित करना होता है तो एक से नौ तक अभीष्ट संख्याओं के पर्याय लिखे जाते हैं, लेकिन उनकी गणना दाहिने से बाएँ ओर होती है। नियम है कि 'अंकानां वामतो गतिः'—अर्थात् अंकों का क्रम उलटी ओर से पढ़ा जायगा। उदाहरण के लिए यदि संवत् १६६१ लिखना है तो १, ६, ६, १ का पर्याय चन्द्र[१], राग[६], निधि[९], शुक्रदृग[१] लिखा जायगा। इस प्रकार बड़ी से बड़ी संख्या का संकेत पर्यायवाची प्रतीक से दिया जाता है। इन प्रतीकों में मनुष्य के निरीक्षण और धर्म-बोध की कितनी विशाल परिधि खींची गई है!

इसी प्रकार वस्तुओं को संख्याओं के विशिष्ट वर्गों में विभाजित किया गया है। जीवन में जिन वस्तुओं का अधिकाधिक प्रभाव है, वह प्रभाव चाहे धार्मिक, दार्शनिक अथवा सामाजिक क्षेत्र में हो, उन्हीं को प्रतीक मान कर उनका सम्बन्ध संख्याओं से जोड़ दिया गया है। रीति-शैली में इसका प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है। उदाहरण के लिए विशिष्ट शब्दों का संख्या-क्रम देखिए :—

द्विपद—	देवता, राक्षस, मनुष्य ।
त्रिकाण्ड—	कर्म, उपासना, ज्ञान ।
त्रिकाल—	भूत, भविष्य, वर्तमान ।
त्रिगुण—	सत, रज, तम ।
त्रिदेव—	ब्रह्मा, विष्णु, महेश ।
त्रिदोष—	वात, पित्त, कफ़ ।
त्रिनाड़ी—	इँगला, पिंगला, सुषुम्णा ।
त्रिलोक—	स्वर्ग, मर्त्य, पाताल ।
त्रिवर्ग—	अर्थ, धर्म, काम ।
त्रिवेणी—	गंगा, यमुना, सरस्वती ।
त्रिसंध्या—	प्रातः, मध्याह्न, सायं ।
त्रैअग्नि—	बड़वाग्नि, दावाग्नि, जठराग्नि ।
त्रैऋण—	देव, ऋषि, पितृ ।
त्रैताप—	दैहिक, दैविक, भौतिक ।
चतुरंगिनी—	हस्ति, अश्व, रथ, पदाति ।
चतुरवस्था—	जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्त, तुरीय ।
चतुराकार—	अण्डज, पिण्डज, स्वेदज, उद्भिज ।
चतुराश्रम—	ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास ।
चतुरूप वेद—	आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, स्थापत्यवेद ।
चतुरुपाय—	साम, दाम, दण्ड, भेद ।
चतुर्दर्शन—	श्रवण, चित्र, स्वप्न, प्रत्यक्ष ।
चतुर्दिक्—	उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम ।
चतुर्मोक्ष—	सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य ।
चतुर्युग—	सत, त्रेता, द्वापर, कलि ।
चतुर्वर्ग—	धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ।
चतुर्वर्ण—	ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ।
चतुर्वेद—	ऋक, यजुः, साम, अथर्व ।
पंच उपासक—	शैव, वैष्णव, शाक्त, सौरि, गाणपत्य ।
पंचक—	धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वभाद्रपद्र, उत्तरभाद्रपद, रेवती ।
पंचकन्या—	द्रौपदी, सीता, तारा मन्दोदरी, अहल्या ।

पंच कर्मेन्द्रिय— हस्त, पद, वाणी, मूत्र-द्वार, मल-द्वार।
पंच गव्य— गो-दुग्ध, दधि, घी, गो-मूत्र, गोबर।
पंच गौड— सारस्वत, कान्यकुब्ज, गौड़, मैथिल, उत्कल।
पंच द्रविड़— गुर्जर, द्राविड़, महाराष्ट्र, कर्नाटक, तैलंग।
पंच द्रव्य— चन्दन, अगरु, कर्पूर, केसर, गुग्गुल।
पंच तत्त्व— पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश।
पंचतन्मात्र— शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध।
पंच देवी— लक्ष्मी, दुर्गा, राधा, वाणी, शाकम्भरी।
पंचनन्द — वितस्ता, इरावती, चन्द्रभागा, शतद्रु, विपाशा।
पंचप्राण— प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान।
पंच बाण—(१) अरविन्द, अशोक, आम्र, नवमल्लिका, नीलोत्पल।
(२) मोहक, उन्मादक, शोषक, श्लथक, अचेतक।
पंच मकार— मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा, मैथुन।
पंच महापाप - ब्रह्महत्या, सुरा-पान, स्तेय, गुरु-स्त्री-गमन, उपर्युक्त संग।
पंच महायज्ञ — स्वाध्याय, अग्निहोत्र, अतिथि-सत्कार, पितृ-तर्पण, बलि।
पंच रत्न— स्वर्ण, हीरक, नीलमणि, पद्मराग, मुक्ता।
पंच वटी— पीपल, बेल, वट, आँवला, अशोक।
पंच वर्ग— कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग।
पंच ज्ञानेन्द्रिय— नेत्र, नासिका, कर्ण, जिह्वा, त्वचा।
पंचाग (ज्योतिष में)— तिथि, वार, नक्षत्र, योग, करण।
(ओषधि में) फल, फूल, पल्लव, डाल, जड़।
पंचामृत— दुग्ध, दधि घृत, मधु, शर्करा।
पंचावस्था— बाल्य (पाँच वर्ष), कुमार (दस-वर्ष), किशोर (पन्द्रह वर्ष), तरुण (चालीस वर्ष) बृद्ध (मृत्यु-पर्यन्त)।
षट् ईति— काल, अवर्षण, शलभा (टिड्डी), हिमोपल, मूषक, अति वृष्टि।
षट् ऊर्मि— भूख, प्यास, मोह, शोक, वृद्धावस्था, मृत्यु।
षट् ऋतु— वसन्त (चैत्र, वैशाख), ग्रीष्म (ज्येष्ठ, आषाढ़), पावस (श्रावण, भाद्रपद), शरद (आश्विन, कार्तिक), हेमन्त (मार्गशीर्ष, पौष) शिशिर (माघ, फाल्गुन)।
षट् कर्म— (१) शान्ति, स्तम्भन, विद्वेष, उच्चाटन, वशीकरण, मारण।
(२) यजन, याजन, पठन, पाठन, दान, दान-ग्रहण।
षट् चक्र— मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा।

षट्गुण— संधि, विग्रह् यान, आसन, द्वैध, आश्रय ।

षट् दर्शन— मीमांसा, (जैमिनि रचित), वैशेषिक (कणाद रचित), न्याय (गौतम रचित), योग (पतञ्जलि रचित), सांख्य (कपिल रचित), वेदान्त (वेदव्यास रचित) ।

षट् प्रज्ञ— धर्मज्ञ, अर्थज्ञ, कामज्ञ, मोक्षज्ञ, लोकज्ञ, तत्त्वज्ञ ।

षट् रस— मधुर, क्षार, तिक्त, कटु, काषाय, अम्ल ।

षट् राग— भैरव, मालकोस, हिण्डोल, दीपक, मेघ, श्री ।

षट् रिपु— काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर ।

षट् वेदाङ्ग— छन्द (पिंगल कृत), कल्प (मनु कृत), ज्योतिष (वशिष्ठ कृत), निरुक्त (यास्क कृत), शिक्षा (पाणिनि कृत), व्याकरण (पतञ्जलि कृत) ।

षडंग— मस्तक, कटि, दोनों भुजा, दोनों जंघा ।

सप्त ऋषि— अत्रि, कश्यप, गौतम, भरद्वाज, वशिष्ठ, विश्वामित्र, यमदग्नि ।

सप्त तल— अतल, वितल, सुतल, महातल, तलातल, रसातल, पाताल ।

सप्त द्वीप— जम्बू, शाक, कुश, क्रौञ्च, शाल्मल, मेद, पुष्कर ।

सप्त धातु— (१) स्वर्ण, रजत, ताम्र, राँगा, जस्ता, सीसा, लोहा ।
(२) चर्म, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य ।

सप्त पदार्थ— द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव ।

सप्त पुरी— अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काञ्ची, अवन्तिका, द्वारिका ।

सप्त राज्य श्री— मंत्री, शस्त्रास्त्र, अश्व, हस्ति, देश, कोष, दुर्ग ।

सप्त लोक— भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक, सत्यलोक ।

सप्त वार— रविवार, सोमवार, मंगलवार, बुधवार, गुरुवार, शुक्रवार, शनिवार ।

सप्त सागर— लवण, इक्षु, दधि, दुग्ध, मधु, मदिरा, घृत ।

अष्ट छाप— सूरदास, कृष्णदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, चतुर्भुज स्वामी, छीत स्वामी, नन्ददास, गोविन्द दास ।

अष्ट दिग्गज— ऐरावत, पुण्डरीक, वामन, कुमुद, अञ्जन, पुष्पदन्त, सार्वभौम, सुप्रतीक ।

अष्ट मंगल— ब्राह्मण, गौ, अग्नि, स्वर्ण, घृत, सूर्य, जल, नरेश ।

अष्ट महानाग— वासुकी, तक्षक, कर्कोटक, शंख, कुलिक, पद्म, महापद्म, अनन्त ।

अष्ट मूर्ति— (क्षिति मूर्ति) सर्व, (जल मूर्ति) भव, (अग्नि मूर्ति) रुद्र, (वायु मूर्ति) उग्र, (आकाश मूर्ति) भीम, (यजमान मूर्ति) पशुपति, (चन्द्र मूर्ति) महादेव, (सूर्य मूर्ति) ईशान ।

अष्ट याम — पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न, सायं, प्रदोष, निशीथ, त्रियामा, उषा ।

अष्ट योग— यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ।

अष्ट लोक-पाल—इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर, शंकर ।

अष्ट वसु— धर, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनिल, अनल, प्रत्यूष, प्रभास ।

अष्ट वैयाकरण— इन्द्र, चन्द्र, काशि, कृष्ण, पिशली, शाकटायन, पाणिनि, अमर ।

अष्ट शक्ति— इन्द्राणी, कौमारी, ब्रह्माणी, वाराही, चामुण्डा, वैष्णवी, माहेश्वरी, विनायकी ।

अष्ट सिद्धि— अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व ।

नव खंड— कुरु, हिरण्यमय, रम्यक, इला, हरि, केतुभाल, भद्राश्व, किन्नर, भारत ।

नव ग्रह— रवि, सोम, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु, केतु ।

नव द्रव्य— पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन ।

नव दुर्गा— शैलत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डा, स्कन्द-माता, कात्यायनी, कालरात्री, महागौरी, सिद्धिदा ।

नव द्वार— वाम नेत्र, दक्षिण नेत्र, वाम कर्ण, दक्षिण कर्ण, वाम नासिका-रन्ध्र, दक्षिण नासिका-रन्ध्र, मुख, लिंग, गुदा ।

नवधा भक्ति— श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्म-निवेदन ।

नव नाड़ी— इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा, गान्धारी, गज-जिह्वा, पूषा, प्रसाद, शनि, शंखिनी ।

नव निधि— महापद्म, पद्म, शंख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील, खर्व ।

नव रत्न— हीरा, पन्ना, माणिक, नीलम, लहसुनिया, पुखराज, गोमेद, मोती, मूँगा ।

नव रस— शृंगार, करुण, हास्य, वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, शान्त ।

नव स्थायी भाव—रति, शोक, हास, उत्साह, क्रोध, भय, जुगुप्सा, आश्चर्य, निर्वेद ।

नव रात्रि— चैत्र शुक्ल तथा आश्विन शुक्ल की प्रतिपदा से नवमी तक की रात्रियाँ ।

नव विप्र-कर्म— शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान, आस्तिक्य ।

नव शक्ति— वैष्णवी, ब्रह्माणी, रौद्री, माहेश्वरी, नारसिंही, वाराही, इन्द्राणी, कार्तिकी, सर्वमंगला ।

दश अवतार— मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध, कल्कि ।

दस दशा— गर्भवास, जन्म, शिशुता, कौमार, कैशोर, तारुण्य, प्रौढ़त्व, वृद्धावस्था, प्राणरोध, मृत्यु ।

दश दिग्पाल— इन्द्र (पूर्व), वरुण (पश्चिम), कुवेर (उत्तर), यम (दक्षिण), अग्नि (आग्नेय), निऋृति (नैऋृत्य), वायु (वायव्य), शिव (ईशान), ब्रह्मा (ऊर्ध्व), शेष (अध) ।

दश बल— दान, शील, क्षमा, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा, सामर्थ्य, उपाय, प्रणिधि, ज्ञान ।

दस ब्राह्मण— सारस्वत, कान्यकुब्ज, गौड़, मैथिल, उत्कल, गुर्जर, द्रविड़, महाराष्ट्र, कर्नाटक, तैलंग ।

दस महाविद्या— काली, तारा, षोडषी, भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगला, मातंगी, कमला ।

दस वायु— प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त, धनञ्जय ।

दस विश्वेदेव— क्रतु, दक्ष, वसु, सत्य, काम, काल, ध्वनि, रोचक, आर्द्रव, पुरुरवा ।

एकादश रुद्र— अज, एकपात, अहिर्बुध्न, पिनाकी, अपराजित, त्र्यम्बक, महेश्वर, वृषाकपि, शंभु, हरण, ईश्वर ।

द्वादश मास— चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ, फाल्गुन ।

द्वादश राशि— मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुंभ, मीन ।

द्वादश सूर्य— विवस्वान, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शक्र, उरुक्रम ।

द्वादश भूषण— शीशफूल (शीश), बेंदी (मस्तक), ताटंक (कर्ण), बेसर (नासिका), कंठ-श्री (ग्रीवा), हार (हृदय), कर्धनी (कटि), बाजूबन्द (बाहु), चूड़ी (कर), मुद्रिका (अँगुली), पायल (पैर), नूपुर (चरणांगुलि) ।

त्रयोदश भागवत—प्रह्लाद, नारद, पराशर, पुण्डरीक, अम्बरीष, व्यास, शुक्र, शौनक, भीष्म, रुक्माङ्गद, अर्जुन, वशिष्ठ, विभीषण ।

चतुर्दश इन्द्र— इन्द्र, विश्वभुक्, विपश्चित, विभुं, प्रभु, शिखि, मनोजव, तेजस्वी बलिर्भाव्य, त्रिदिव, सुशान्ति, सुकीर्ति, ऋतधाता, दिवस्पति ।

चतुर्दश भुवन— सप्तलोक और सप्तद्वीप ।

चतुर्दश मनु— स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्ष सावर्णि, ब्रह्म सावर्णि, धर्म सावर्णि, रुद्र सावर्णि, रौच्य दैव सावर्णि, इन्द्र सावर्णि।

चतुर्दश यम— यम, धर्मराज, मृत्यु, अंतक, वैवस्वत, नील, दह्न, काल, सर्व-भूतक्षय, परमेष्टि, वृकोदर, औदुम्बर, चित्र, चित्रगुप्त ।

चतुर्दश रत्न— श्री (लक्ष्मी), मणि, रम्भा, वारुणी, अमृत, शंख, गजराज, धनु, धन्वन्तरि, धेनु, शशि, कल्पद्रुम, विष, बाजि ।

चतुर्दश विद्या— चार वेद, छः शास्त्र, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र, पुराण ।

पंचदश तिथि— प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्टी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पूर्णिमा ।

षोडश कला— अमृता, मानदा, पूषा, तुष्टि, पुष्टि, रति, धृति, शशिनी, चंद्रिका, कान्ति, ज्योत्स्ना, श्रिय, प्रीति, अंगदा, पूर्णा, पूर्णामृता ।

षोडश शृंगार— शौच, उबटन, स्नान, केश-बन्ध, अंग-राग, अंजन, जावक, दन्त-रंजन, ताम्बूल, वसन, भूषण, सुगन्ध, पुष्प-हार, कुंकुम, भाल-तिलक, चिबुक-बिन्दु ।

षोडस संस्कार— गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्त, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्न-प्राशन, चूड़ाकरण, कर्ण-वेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम, संन्यासाश्रम ।

अष्टादश पुराण— ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त्त, लिंग, वाराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़, ब्रह्माण्ड ।

अष्टादश उपपुराण—काली, साम्ब, सनत्कुमार, वरुण, मरीचि, नन्दी, शिव, दुर्वासा, मनु, नारदीय, कपिल, सौर, माहेश्वरी, शुक्र, भार्गव, नृसिंह, धर्म, पराशर ।

अष्टादश वर्ण— चार वेद, चार वर्ण, चार युग, तीन लोक, तीन काल ।

अष्टादश व्यसन— मृगया, द्यूत, दिवा शयन, छिद्रान्वेषण, स्त्री-आसक्ति, मद्य-पान, वादन, नर्तन, गायन, व्यर्थ अटन, पिशुनता, चुगली, द्रोह, ईर्ष्या, असूया, दूसरे की वस्तु-हरण, कटुवाक्, कठोर ताड़ना ।

अष्टादश स्मृति— मनु, याज्ञवल्क्य, मिताक्षरा, हारीत, पराशर, भृगु, सामापत, कात्यायन, वशिष्ठ, भरद्वाज, कौशिक, बार्हस्पत्य, गौतम, कश्यप, आसुर, यमदग्नि, अस, यम ।

पंचविंशति प्रकृति— प्रत्येक तत्त्व की पाँच प्रकृतियाँ :—
आकाश—काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय ।
वायु—दौड़ना, लेटना, काँपना, चलना, संकोच ।
जल—ज्योति, स्वेद, रक्त, लार, मूत्र ।
पृथ्वी—त्वचा, केश, मांस, नाड़ियाँ, अस्थि ।
अग्नि—प्यास, भूख, नींद, श्रान्ति, आलस्य ।

सप्त विंशति नक्षत्र—अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिर, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, अश्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुणी, उत्तरा, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़, उत्तराषाढ़, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिष, पूर्वाभाद्रपद, उत्तरा भाद्रपद, रेवती ।

त्रिशति (३०) रागिणी—भैरवी, वैराड़ी, मधुमाधवी, सिन्धवी, बंगाली, टोड़ी, गौरी, गुनकली, खम्भावती, कुकुभा, रामकली, देशाख, ललित, बिलावल, पटमञ्जरी, देशी, कामोदी, नट, केदारा, कान्हड़ा मालव, धनाश्री, वसन्त, मालश्री, आसावरी, टंक, मलारी, गूजरी, भूपाली, देशकार ।

चतुःषष्टि (६४) योगिनी—नारायणी, गौरी, शाकम्भरी, भीमा, रक्तदंतिका, भ्रामरी, पार्वती, दुर्गा, कात्यायनी, महादेवी, चन्द्रघण्टा, महाविद्या, महा-

तपा, सावित्री, ब्रह्मवादिनी, भद्रकाली, विशालाक्षी, रुद्राणी, कृष्णपिंगला, अग्निज्वाला, रौद्रमुखी, कालरात्रि, तपस्विनी, मेघस्वना, सहस्राक्षी, विष्णुमाया, जलोदरी, महोदरी, मुक्तकेशी, घोररूपा, महाबला, श्रुति, स्मृति, धृति, तुष्टि, पुष्टि, मेधा, विद्या, लक्ष्मी, सरस्वती, अपर्णा, अम्बिका, योगिनी, डाकिनी, शाकिनी, हारिणी, हाकिनी, लाकिनी, त्रिदशेश्वरी, महाषष्ठी, सर्वमंगला, लज्जा, कौशिकी, ब्रह्माणी, ऐन्द्रि, नारसिंही, बाराही, चामुण्डा, शिवदूती, विष्णुमाया, मातृका चूलिका, चन्द्रहासा चकोरी ।

चतु:षष्टि(६४)कला—अभिधान कोष, आलेख्य, आस्तरण, ऐन्द्रजाल, कर्ण-पत्र-क्रिया, कर्यक्रीड़ा, कल्पना, केश-मार्जन, कौचुमार, खनि-भू-ज्ञान, गीत-वाद्य-नृत्य, चित्र-योग, छन्द-ज्ञान, छलित योग, छाया-चित्र-निर्माण, जलस्तम्भ-यान, तक्षण, तर्ककर्म, दशन, दुर्वचक-योजना, देश-भाषण-कौशल, धातुवाद, नाटकाख्यायिका, नाट्य, नेपथ्य, पट्टिका-वेत्र-वाण-रचना, पानकादि, पुष्प-शकट, पुस्तक-वाचन, पूजाप्रकरादि, प्रहेलिका, बाल-क्रीड़ा, भूषादि-योजन, मणि-भू-रचना, मातृका-संवाच्य, मानस-काव्य, माल्य-ग्रथन, मेष-कुक्कुट-लावादि-युद्ध-रीति, म्लेक्ष-भाषा-कौशल, यंत्र मातृका, रत्नरंजन, लुप्ताक्षर-मुष्टि वस्तु-कथन, वसनांगराग, वस्त्रगुप्ति, वास्तुकला, विकल्पा, विशेषकच्छेद्य, वीणा-डमरूवाद्य, वैजयिकी, वैतालिकी, वैनायकी, वृक्षायुर्वेद, शयल, शारिका-शुक-उद्वर्त्तन, शास्त्र-संपाद्यपाटव, शेखरापीड़ योजना, सजीव-निर्जीव द्यूत, समस्या-पूर्ति, सुगन्धियोजन, सुवर्ण, रूप्य-रत्न-परीक्षा, सूचीबान-क्रिया, सूत्र-क्रीड़ा, सूद-शास्त्र, हस्त-लाघव ।

चतुरष्टारिंशति लक्ष (चौरासी लाख) योनि :—

१. कृमि—ग्यारह लाख
२. चतुष्पद—तीस लाख
३. जल-जीव—नौ लाख
४. पक्षी—दस लाख
५. मनुष्य—चार लाख
६. वृक्ष—बीस लाख

संख्याओं के इन प्रतीकों का अध्ययन करने पर कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण

तथ्य हमारे सामने आते हैं। हमारे ज्ञानी, विज्ञानी और मनीषी पूर्वजों ने संसार पर अत्यन्त तीक्ष्ण दृष्टि डाल कर उसका विश्लेषण अनेक प्रकार से किया है जिससे मानव उनके प्रति जागरूक होकर अपने जीवन की व्यवस्था के अनेकानेक उपाय सोच और समझ सके। संसार के परिवर्तनशील क्रम की शायद ही कोई ऐसी परि-स्थिति और क्रिया छूटी हो, जिस पर उन्होंने अपनी मननशील प्रकृति का आलोक न डाला हो। देव, दानव और मानव सृष्टि का विश्लेषण पूरी तरह करके उन्होंने प्रत्येक सृष्टि की समीक्षा की है। वे इतने व्यावहारिक थे कि उन्होंने दानव-दृष्टि का उल्लेख मात्र ही किया है, उसकी विवेचना विस्तारपूर्वक नहीं की। इस भय से कि मानव-जगत् से उसका सम्बन्ध न होना ही अच्छा है। देव-सृष्टि का संकेत केवल इसी दृष्टि से है कि उसके द्वारा संसार की प्रत्येक वस्तु का निर्माण हुआ है और उसके प्रति जागरूक रहने से मानव का कल्याण हो सकता है। उसके लिए धर्म और दर्शन में आस्था रखने से मानव का साधना-पथ प्रशस्त होता है। सबसे अधिक विश्लेषण मानव-सृष्टि का ही हुआ है और इस मानव-सृष्टि के समस्त अंगों और उपांगों में इस जीवन की अनुभूति प्रत्यक्ष की गई है। इस विश्लेषण को हम निम्न प्रकार से वर्गों में बाँट सकते हैं :—

(क) देव-सृष्टि

सृष्टा, पालक और संहारक के रूप में ब्रह्मा, विष्णु, महेश वन्दनीय हैं। उनके साथ उनकी विविध शक्तियाँ भी हैं। नौ दुर्गाएँ, नौ शक्तियाँ तथा चौसठ योगिनियाँ संसार का नियमन और विकास करती हैं। उनकी उपासना जीवन का लक्ष्य होना चाहिए।

(ख) दानव-सृष्टि

यह केवल इसीलिए प्रसिद्ध है कि सृष्टि केवल द्विपद है।

(ग) मानव-सृष्टि

इसके अनुसार जीवन अनेक अंगों में विभाजित किया गया है :—

(१) धर्म—साधना के अन्तर्गत ज्ञान, कर्म और भक्ति।
(२) दर्शन—विविध प्रकार के तत्त्व-निरूपण।
(३) समाज—व्यक्ति और जाति।
(४) राजनीति और राज्य की व्यवस्था।
(५) आयुर्वेद और शरीर-विज्ञान—अनेक योनियों की संख्या और उनके विशिष्ट गुण।
(६) साहित्य और भाषा।
(७) कला—संगीत, वाद्य और विविध प्रकार की ललित कलाएँ।

(८) ज्योतिष—नक्षत्र, दिन-मान, समय आदि।
(९) भूगोल—पृथ्वी का विस्तार।
(१०) खनिज—धातुएँ और रत्न आदि।
(११) देश-काल—परिस्थितियाँ।
(१२) प्रकृति और वृक्ष-विज्ञान—अनेक प्रकार के पुष्प और लताएँ।
(१३) चेतन और अवचेतन मन।
(१४) मनुष्य का जीवन—उसके गुण-दोष, व्यसन आदि, उसके मंगल और शृंगार की अनेक विधाएँ। पाप और पुण्य आदि।

इस भाँति इन प्रतीकों के संख्या-सूचक निर्देशों से हमें जीवन की अनेकानेक स्थितियों का परिचय सहज ही हो जाता है। यह समास-शैली में जीवन के व्यास को कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करने का सफल प्रयोग कहा जा सकता है।

(च) नीति सापेक्ष्य साहित्य

सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की भावना से प्रेरित साहित्य मानव-जीवन के विकास को ही दृष्टि में रख कर अग्रसर होता है। इस विकास के लिए यह आवश्यक है कि जीवन के परिप्रेक्ष्य में जो परिस्थितियाँ हैं उन पर या तो विजय प्राप्त की जाय या उन्हें अनुकूल बना लिया जाय। जिन विधियों से यह लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है, वे या तो अपने अनुभव से ही अर्जित की जा सकती हैं, या अपने पूर्ववर्ती कर्मठ व्यक्तियों के अनुभवों से लाभ उठा कर प्राप्त की जा सकती हैं। मनुष्य के संक्षिप्त जीवन में प्रत्येक प्रकार की परिस्थितियाँ घटित नहीं हो सकतीं और तज्जनित लाभ या हानि की कल्पना नहीं की जा सकती। मनुष्य भविष्य की अकल्पित और असंभावित घटनाओं की गति-विधि का निरूपण भी नहीं कर सकता और उसके पास व्यक्तिगत मेधा भी इतनी नहीं है कि वह उन घटनाओं से उत्पन्न स्थितियों का सम्यक् आकलन भी कर सके। ऐसी स्थिति में विविध प्रकार के अनुभवों से सम्वलित ऐसे विचार-सूत्र जो अनुभवी व्यक्तियों द्वारा समय-समय पर प्रस्तुत किये गये हैं, उसके जीवन का ताना-बाना बुनने में बहुत सहायक हो सकते हैं। जीवन के विविध और विचित्र अनुभवों के आधार पर मानव को अपने जीवन की गति-विधि में नियंत्रित और स-शक्त बनाने के लिए जो कुछ भी महान् विचारकों अथवा चिन्तकों द्वारा कहा गया है, उसे 'नीति' की संज्ञा दी जा सकती है। नीति शब्द संस्कृत की 'णीय्' धातु से बना है जिसका अर्थ है आगे ले चलना या आगे बढ़ाना। वस्तुतः नीति यही काम करती है कि वह विशिष्ट परिस्थितियो में पड़े हुए व्यक्ति को परिस्थितियों से मुक्त कर अथवा उन परिस्थितियों के बीच समुचित

दृष्टि प्रदान कर उसे आगे ले चले अथवा आगे बढ़ा दे। मानव के प्रत्येक क्षेत्र में चाहे वह ज्ञान-क्षेत्र हो, अथवा व्यवहार-क्षेत्र, यह नीति एक दीप-स्तंभ की भाँति उसका भविष्य-पथ आलोकित करती है।

जब से मानव में अपने व्यक्तिगत जीवन को व्यवस्थित करने की प्रेरणा उत्पन्न हुई अथवा समाज का निर्माण होने पर उससे सम्पर्क और संघर्ष की भावना उदित हुई, तभी से उसने अपने अनुभव के आधार पर परिस्थितियों का निरूपण करना आरम्भ कर दिया। यही कारण है कि हमारे समाज में नीति के संकेत वैदिक साहित्य से ही प्राप्त होने लगते हैं। उसके अनन्तर उपनिषद्-साहित्य, सूत्र-साहित्य, बौद्ध-साहित्य, जैन-साहित्य, महाकाव्य-साहित्य, स्मृति-साहित्य, पुराण-साहित्य, कथा-साहित्य आदि में नीति के अनेक रूप और अनेक प्रकार दृष्टिगत होते हैं। देश, काल और पात्र ने तो विविध प्रसंगों और परिस्थितियों में नीति को विधि और निषेध की कोटियों में विन्यस्त किया ही है, व्यक्ति और समाज की अनेक प्रथाओं और मान्यताओं ने भी नीति की निधि को अनेक प्रकार से समायोजित किया है। फिर बदलते हुए लोक-मानस ने अनेकानेक विषयों को हृदयंगम कर तत्सम्बन्धी ऐसे रहस्यों का अन्वेषण किया है जो किसी एक व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है। विविध आचारों और व्यवसायों में निवद्ध मानव-मन किन-किन कुहेलिकाओं से निकल कर आया है, उसका समस्त ज्ञान अनुभव की कसौटियों पर कसा गया है। ज्ञान सदैव ही विकासोन्मुखी है, अतः जिस ज्ञान की मान्यता प्राचीन काल में जिस प्रकार से थी, उसकी मान्यता मध्य काल में अथवा आधुनिक काल में किस रूप में ग्रहण की जा सकी है? जो ज्ञान शाश्वत है, उसमें भले ही संशोधन न हो किन्तु जो सत्य युग-सम्भूत है, उसमें तो परिवर्तन या संशोधन हो सकता है। इस प्रकार इस ज्ञान की अनेकानेक अभिव्यक्तियाँ और अभि-व्यञ्जनाएँ देश और काल के सन्दर्भ में विविध प्रकार से हुई हैं, जिन्होंने नीति के परिवेश में ही अपना निर्माण किया है।

यह भी संभव हुआ है कि जो नीति देश-काल-निरपेक्ष्य रही है, उसकी अभि-व्यक्ति विभिन्न कालों में दुहराई गई है। इस बात का प्रयत्न किया गया है कि किसी तथ्य को और भी अच्छे ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाय। यदि कहने की शैली में अधिक रोचकता या मनोरंजन उपस्थित किया जा सके तो और भी अच्छा है, नहीं तो कही हुई बात इतनी प्रभावशालिनी है कि उसका शिष्ट भाषा से जन-भाषा में ही रूपान्तर कर दिया जाय। उदाहरण के लिए संस्कृत में एक सुभाषित में नीति की बात भाषा में इस प्रकार है :—

वातोल्लसित कल्लोल धिक् ते सागर गर्जितम्।
यस्य तीरे तृषाक्रान्तः पान्थः पृच्छति वापिकाम्॥

कवि दीन दयाल ने भाषा में उसका रूपान्तर इस प्रकार किया है :—

गरजै बातन तें कहा धिक नीरधि गंभीर।
विकल विलोकै कूप-पथ तृषावन्त तो तीर॥
तृषावन्त तो तीर फिरै तुहिं लाज न आवै।
भँवर लोल-कल्लोल कोटि निज विभौ दिखावैं॥
बरनै दीन दयाल सिन्धु तोकों को बरजै।
तरल तरंगी ख्यात, वृथा बातन तें गरजै॥

इस बात का प्रयत्न सदैव ही किया जाता है कि कही हुई बात को अधिक प्रभावशालिनी बनाने के लिए या तो उसके सन्दर्भ का विस्तार कर दिया जाय या उस बात के कथन में अतिरंजना या अतिरिक्त प्रसंगों को जोड़ दिया जाय। ऐसा करने से कभी तो तथ्य अधिक प्रभावशाली हो जाता है और कभी व्यर्थ के शब्दाडम्बर में कही हुई बात की तीक्ष्णता कुण्ठित हो जाती है। यह भी सम्भव है कि देश, काल, पात्र और परिस्थिति के अनुसार कही गई बातों के अभिव्यक्तीकरण में अन्तर अथवा परिवर्तन लाने की आवश्यकता पड़े, इसलिए पूर्ववर्ती नीति की अभिव्यक्ति परवर्ती नीति में दूसरे प्रकार से हो जाती है।

नीति की परिधि मानव का सम्पूर्ण जीवन ही है। जहाँ-जहाँ किसी व्यक्ति को अपने कार्यों के औचित्य या अनौचित्य का प्रतिफलन सुख या दुःख में मिलता है, वहाँ-वहाँ वह लोक-कल्याण के लिए अथवा आत्माभिव्यक्ति के लिए कुछ कथन इस प्रकार कर देता है कि वे नीति का रूप ग्रहण कर लेते हैं। यह नीति दो क्षेत्रों से उद्‌भूत होती है। पहला क्षेत्र तो वह है जहाँ वह आत्म-परिष्कार के लिए कुछ तथ्यों का निरूपण करता है। यह आत्म-परिष्कार विधि और निषेध परक है। संत कवियों ने भक्ति या उपासना के लिए मन की सभी विषय-वासनाओं को दूर करने की नीति कही है। इन्द्रियों के विषय—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि से मन को विशुद्ध करना ही मन को भक्ति के अनुकूल बनाना है। मन के निष्पाप हो जाने पर सतोगुण की वृद्धि के लिए सत्संग, दया, क्षमा, उदारता, परोपकार, अहिंसा आदि गुणों की वृद्धि के साधन सुझाए गए हैं। ये विधि और निषेध न केवल साधना के क्षेत्र में आवश्यक हैं, वरन् आत्म-कल्याण और आत्म-विकास के भी पोषक हैं। विविध परिस्थितियों और विविध अवसरों पर आत्म-परिष्कार के अनेकानेक विधि-निषेध हो सकते हैं, जो आत्म-विश्लेषण से स्पष्ट हो जाते हैं।

नीति का दूसरा क्षेत्र वह है जहाँ व्यक्ति का सम्बन्ध समाज से होता है। समाज अनेक वर्गों में बँटा है, वह अनेक व्यवसायों से सम्पुष्ट होता है। वर्गों के

अनेकानेक उपवर्ग हैं तथा व्यवसायों के भी अनेक प्रकार हैं। इस प्रकार वर्गों और उपवर्गों तथा व्यवसायों के विविध प्रकारों में जहाँ व्यक्ति अनेक व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है, वहाँ सफलता अथवा असफलता के परिणाम-स्वरूप अनेक तथ्यों को लेकर नीति का निर्माण हो जाता है।

पहले संसार को ही लीजिए जिसमें नश्वरता के कारण प्रतिपल परिवर्तन होता है। उसमें माया की प्रबलता है। माया से अनेकानेक आकर्षण उत्पन्न होते हैं। इन आकर्षणों से मनुष्य के समाज का निर्माण विविध प्रकार से होता है। समाज की विविधता में मनुष्य के स्वभाव की विविधता परिलक्षित होती है। उसमें वर्ण-व्यवस्था है। प्रत्येक वर्ण का विशिष्ट कार्य है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अलग-अलग मनोभाव हैं और अलग-अलग व्यवसाय हैं। ब्राह्मण के कार्यों में विद्या तथा तत्सम्बन्धी अनेक मानसिक प्रक्रियाएँ, क्षत्रिय के कार्यों में राजनीति द्वारा देश और समाज की रक्षा के लिए युद्ध और संधि के सन्दर्भ में साम, दान, दंड, भेद आदि, वैश्य के कार्यों में वाणिज्य तथा खेती और खेती के सम्बन्ध में अनेक ऋतु और पशु सम्बन्धी विस्तार, शूद्र के कार्यों में सेवा और उसके अनेकानेक प्रकार न जाने कितने सन्दर्भों में वर्णित किये जा सकते हैं। इन समस्त कार्य-कलापों में नीति का प्रवेश है। समाज के अंतर्गत नारी का विशिष्ट स्थान है। नारी न जाने कितने रूपों में समाज में परिव्याप्त है। प्रत्येक रूप में उसके प्रति नीति की सूक्तियाँ कथित हैं। गृहिणी और स्वैरिणी के रूप, बाला, तरुणी और वृद्धा के रूप, उसके कार्य-कलाप, शरीर की शोभा, कान्ति, शृंगार, आकर्षण और विकर्षण के मनोभावों को लेकर नारी की सत्ता अनेक प्रकार से नीति में कही गई है। समाज में परिवार की इकाई महत्त्वपूर्ण है। माता, पिता, बहिन, भाई, पुत्र, पुत्री तथा अनेक सम्बन्धियों के परस्पर व्यवहार में भी नीति का प्रभुत्व है।

इन सब के अतिरिक्त ज्ञान के अनेक क्षेत्रों में मानव की आस्था है। आयुर्वेद ज्योतिष जिसके अन्तर्गत शकुनापशकुन तथा जन्म, विवाह, वैधव्य, यात्रा आदि अनेक योग हैं, नीति की परिधि में आ जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि मानव-जीवन के व्यक्तिगत और समाजगत जीवन का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र हो जिसमें नीति-कथन के लिए परिस्थितियाँ उत्पन्न न होती हों।

नीति-कथन की अनेक शैलियाँ हो सकती हैं जिनका प्रयोग परम्परा-सम्मत कहा जा सकता है। मध्ययुग का साहित्य नीति में अत्यन्त स-शक्त है क्योंकि धर्म के क्रान्तिकारी वातावरण में समाज को व्यवस्थित करने की बड़ी आवश्यकता थी। कबीर, तुलसी, सूर आदि कवियों ने भक्ति का आन्दोलन प्रभावशाली बनाने के लिए उपदेश के अनूठे तत्त्व सामने रक्खे जिनमें नीति का ही प्राधान्य था। कला-

काल में तो नीति जैसे साहित्य की एक विशिष्ट प्रवृत्ति ही बन गई। अनेकानेक कवियों ने केवल नीति-कथन के लिए काव्य-रचना की। इसका विवेचन आगे किया जा रहा है।

नीति-कथन की जो विशिष्ट शैलियाँ कला-काल में दृष्टिगत होती हैं, वे निम्न प्रकार से हैं :—

१. आदेश के रूप में,
२. उपदेश के रूप में,
३. व्यंग्य के रूप में,
४. उदाहरण के रूप में,
५. घटना-प्रसंग के रूप में,
६. सूक्ति के रूप में,
७. अन्योक्ति के रूप में।

इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है :—

आदेश के रूप में

किसी विशेष स्थिति में किसी को स्पष्ट शिक्षा संबोधन के रूप में देने की शैली इसके अंतर्गत है :—

कह गिरिधर कविराय, सुनो हो ठाकुर मन के।
बिनु गुण लहैं न कोय, सहस नर गाहक गुन के॥

उपदेश के रूप में

इस शैली में सर्व-साधारण को सन्मार्ग पर चलने और कुमार्ग को छोड़ने के लिए विधि-निषेध के स्वर में नीति कही जाती है : —

नल की अरु नलनीर की गति एकै कर जोय।
जेतो नीचे ह्वै चलै, तेतो ऊँचो होय॥

व्यंग्य के रूप में

इस शैली में नीति का अर्थ व्यंग्य से ज्ञात होता है :—

बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।
जे नर बकरी खात है, तिनको कौन हवाल॥

उदाहरण के रूप में

इस प्रकार के कथन में नीति को अलंकार की सहायता से अधिक प्रखर बनाया जाता है :—

मूरख को पोथी दई, बाँचन को गुन गाथ।
जैसे निर्मल आरसी, दई अंध के हाथ॥

घटना-प्रसंग के रूप में

इस शैली में किसी घटना अथवा पात्र को लेकर नीति का समर्थन किया जाता है :—

नारी अति बल के भये, कुल कर होत बिनास।
कौरव पांडव बंस को, कियो द्रौपदी नास॥
कियो द्रौपदी नास कैकयी दसरथ मारे।
रामचन्द्र से पुत्र तऊ बनवास सिधारे॥
कह गिरिधर कविराय, बात यह टरत न टारी।
सो कुल सत्यानास जहाँ है अति बल नारी॥

सूक्ति के रूप में

इस शैली में नीति का कथन अत्यन्त चमत्कार के साथ किया जाता है :—

या भव पारावार को उलंघि पार को जाय।
तिय छवि छाया ग्राहिनी, गहै बीच ही आय॥

अन्योक्ति के रूप में

प्रत्यक्ष प्रसंग का वर्णन करते हुए उससे साम्य रखने वाले प्रसंग का कथन इस प्रकार किया जाय कि प्रत्यक्ष प्रसंग का सौन्दर्य और उसकी अनुभूति रस के साथ हो जाय। नीति-साहित्य में इस प्रकार की शैली को सर्वोत्तम शैली कहा जा सकता है। इसके अंतर्गत बिहारी का एक दोहा प्रसिद्ध है।—

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास यहि काल।
अली कली ही सों बिन्ध्यो आगे कवन हवाल॥

नीति-साहित्य की प्रचुरता कला-काल में अधिक हो गई क्योंकि समाज और राजनीति के विकास में मनुष्य की समृद्धि अपेक्षित थी। यद्यपि शाश्वत सत्य लेकर नीति अनेक प्रकार से दुहराई गई है तथापि जनता में उस सत्य को पुनः जगाने के लिए तथा उनके विचारों को परम्परा से जोड़ने के लिए यह साधन अचूक था। राजनीति के व्यवस्थित हो जाने पर जब समाज में ललित कलाओं की अभिरुचि उत्पन्न हो गई तब उनके वैभवपूर्ण जीवन को पथ-भ्रष्ट होने से बचाने के लिए नीति का साहित्य ही अधिक श्रेयस्कर था। नीति के लिए अधिकतर दोहा छंद का ही प्रयोग हुआ है जिसमें अत्यन्त संक्षेप में तथ्य की बात कही जा सकती थी। कथन

का लाघव नीति को सुरक्षित करने में बड़ा सहायक हुआ है। दोहे के साथ अन्य छन्दों का भी प्रयोग हुआ है। छप्पय या कुंडलिया छंदों में नीति सरसता के साथ प्रतिपादित करने का दृष्टिकोण है।

नीति-साहित्य से कला-काल समृद्ध हुआ है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

(छ) वीर काव्य

कला-काल में जहाँ जीवन के सभी क्षेत्रों में एक नवीन जागरण की स्फूर्ति स्पन्दित हुई, वहाँ वीरत्व की भावना भी अभिनव दर्प के साथ उठी। यह एक कुतूहल अवश्य है कि इस काल में एक ओर तो विलासिता की सीमा का स्पर्श करते हुए शृंगार रस अपने विविध विस्तार-सौन्दर्य से 'रसराज' का महत्त्व प्राप्त करता है तो दूसरी ओर वीर रस युद्ध-भूमि में रक्त का अभिषेक ग्रहण कर शूर-वीरों की तलवारों से झंकृत होता है। ऐसी स्थिति में वीर रस शृंगार रस का शत्रु-रस है। रंगभूमि और रणभूमि का प्रतिनिधित्व करते हुए ये दोनों रस एक दूसरे से प्रतिद्वन्द्विता करते हैं और शरीर पर अंगराग और रक्त-लेप का अन्तर स्पष्ट करते हुए अपने-अपने क्षेत्रों में अपनी उत्कृष्टता घोषित करते हैं। यह बात दूसरी है कि कुछ कवि 'रति' को भी 'रण' का रूपक देकर दोनों रसों की एकरूपता निरूपित कर देते है। शेख ने एक ऐसा ही छंद लिखा है :—

रति रन विषै जे रहे हैं पति सनमुख,
तिन्हें बकसीस बकसी है मैं बिहँसि कै।
करन को कंकन, उरोजन को चन्द्र-हार,
कटि माँहि किंकिणी रही है अति लसि कै॥
सेख कहै आनन कों आदर सों दीन्हों पान,
नैनन में काजर की रेख रही बसि कै।
ऐरे बैरी बार, ये रहे हैं पीठ पाछे याते,
बार-बार बाँधति हौं बार बार कसि कै॥

वीरों को पुरस्कार और कायरों को दण्ड देने की व्यवस्था जिस भाँति वीर रस के सन्दर्भ में है, उसी प्रकार की व्यवस्था यहाँ शृंगार रस में भी की गई है।

कवि गण तो अपनी कल्पना-शक्ति और अक्षर-बल से विरोधी तत्त्वों में भी एकरूपता स्थापित कर सकते हैं, किन्तु यह सत्य है कि इस शृंगार के युग में वीर रस ने अपना दर्प अक्षुण्ण रक्खा है, जैसे रणभूमि ने रंगभूमि को एक स-शक्त चुनौती दी हो।

अग्निपुराणकार ने तो रसों के क्षेत्र में वीर रस को ही सर्वोपरि महत्त्व दिया है। रस का विवेचन करते हुए अग्निपुराणकार ने चैतन्य-स्वरूप ज्योतिरीश्वर के आनन्द को ही 'रस' की संज्ञा प्रदान की है :—

अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्।
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्य चमत्कार रसा ह्वया ॥[1]

(ब्रह्मविदों द्वारा अक्षर, परम्, सनातन, जन्म-रहित व्यापक ब्रह्म को ही चैतन्य-स्वरूप ईश्वर कहा गया है। उसका सहज आनन्द जब कभी व्यक्त होता है तब वह चैतन्य-चमत्कार ही 'रस' की संज्ञा से अभिहित होता है।)

इस रस रूपी ब्रह्म में जो प्रथम विकार होता है, उससे अहंकार की सृष्टि होती है। इस अहंकार से अभिमान की उत्पत्ति होती है और अभिमान से रति का रूप स्पष्ट होता है। व्यभिचारी आदि सामान्य भावों से परिपोषित होकर यह रति ही श्रृंगार रस में प्रतिफलित होती है।

आद्यस्तस्य विकारः यः सोऽहंकार इति स्मृतः।
ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम्।[2]
अभिमानाद्रति साच परिपोषमुपेयुषो।
व्यभिचार्यादि सामान्याच्छृंगार इति गीयते ॥[3]

इस निरूपण के अनुसार आदि रस वीर रस है और उसमें अन्य भावों के योग से श्रृंगार रस की स्थिति बनती है। इस भाँति वीर रस को ही 'रस-राज' कहना चाहिए। श्रृंगार रस के तो केवल दो ही भेद हैं—संयोग श्रृंगार और विप्रलम्भ श्रृंगार, किन्तु वीर रस के चार भेद है :—युद्ध-वीर, दान-वीर, धर्म-वीर और दया-वीर। आचार्य विश्वनाथ ने तो वीर रस को ही उत्तम प्रकृति का मान कर उसकी सर्वोपरि महत्ता प्रतिपादित की है।

उत्तम प्रकृतिर्वीरः[4]

पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने ग्रन्थ 'रस गंगाधर' में वीर रस की उत्कृष्टता का समर्थन किया है। उसका कारण यह है कि वीर रस का स्थायी भाव उत्साह है।

१. अग्निपुराण, अध्याय ३३६, १,२।
२. अग्नि पुराण, अध्याय ३३६, ३।
३. अग्नि पुराण, अध्याय ३३६, ४।
४. साहित्य-दर्पण, परिच्छेद ३, २३२।

संसार का कोई भी कार्य बिना उत्साह के संभव नहीं है। जीवन के विविध कार्यों में जहाँ उत्साह की स्फूर्ति है, वहाँ वीर रस की संभावना हो सकती है। यह बात दूसरी है कि संदर्भों के अनुसार ही रस की अनेकरूपता हो। जिस प्रकार रति के स्थायी भाव होने के कारण शृंगार रस की विविधता है, उसी प्रकार उत्साह के स्थायी भाव होने के कारण वीर रस की भी अन्य कोटियाँ संभव हो सकती हैं :—

स्तुतस्तु बहवो वीर रसस्य शृंगारस्येव प्रकाराः। न रूपयितुं शक्यन्ते।[1]

इस व्यापक दृष्टि से नाना सन्दर्भों के अनुसार वीर रस के अनेकानेक भेद हो सकते हैं। यदि हमारे हृदय में हँसने का अत्यधिक उत्साह है तो वह हास्य-वीर भी हो सकता है और यदि हम किसी से घृणा करने को सन्नद्ध हैं तो हमारे हृदय में घृणा-वीर की स्थिति हो सकती है। संभवतः इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर वियोगी हरि जी ने विरहणी व्रजांगनाओं में विरह का अत्यधिक 'उत्साह' मान कर 'विरह-वीर' की कल्पना की है। किन्तु वीर रस को इतनी अधिक परिधि में विन्यस्त करना वीर रस की मूल भावना को अस्पष्ट और धूमिल बनाना है। असत्य पर सत्य की विजय, अन्याय पर न्याय की विजय, अधर्म पर धर्म की विजय के संदर्भ में मानव-हृदय की कल्याणकारिणी प्रेरणा को वीर रस का स्थायी भाव 'उत्साह' मानना अधिक समीचीन है।

इस वीर रस की परम्परा बहुत प्राचीन है। प्रत्येक देश में मानव-कल्याण की दिशा में प्रवृत्त वीर पुरुषों के गुण-गान का उत्साह कवियों और चारणों में सक्रिय रहा है। यह उत्साह कभी स्फुट पदों में, कभी खण्ड-काव्यों में, कभी महा-काव्यों में और कभी लोक-गीतों में और कभी एक साथ सब में अभिव्यक्त हुआ है। ये रचनाएँ पहले तो 'वीर पूजा' के रूप में लिखी या कही गईं, बाद में उनका सम्बन्ध वर्ग, समाज और देश की रक्षा से जुड़ता गया। वैदिक साहित्य में सुदास और दिवोदास की विजय का उल्लेख है। तत्पश्चात् 'शतपथ ब्राह्मण' में राजन्य वर्ग की वीरता का चित्रण है। 'महाभारत' तो 'जय काव्य' के नाम से ही प्रसिद्ध है जिसमें कौरव और पाण्डवों के युद्ध का विस्तार है। उसमें वीरता के गायक 'सूत और मागध' भी सच्चे अर्थों में उत्साह का बखान करने वाले व्यक्ति हैं। 'रामायण' में राम और रावण के युद्ध की विभीषिका और उसका वीरत्व-पूर्ण शब्दों में आख्यान करने वाले कवि वाल्मीकि की वीर-वाणी इस रस की पोषिका है। संस्कृत के अनेक काव्य और नाटक वीर रस की प्रशस्त भूमिका प्रस्तुत करते हैं। भारवि का 'किरातार्जुनीय' काव्य और भट्टनारायण का 'वेणी संहार' नाटक वीर रस के निरूपण के अत्यन्त शक्तिशाली माध्यम माने जा सकते हैं।

---

१. रस गंगाधर।

हिन्दी काव्य के उद्भव के समय देश की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त भयावह और अनिश्चित थी। विदेशियों के आक्रमण ने हमारी नैतिक आस्था और आत्म-सम्मान को छिन्न-भिन्न कर दिया था। जब इन विदेशियों ने भिन्न धर्मावलम्बी होने के कारण हमारे धर्म और धर्म के प्रतीकों को नष्ट-भ्रष्ट करना आरंभ किया तो जनता और भी जर्जर हो गई। यह ऐसा समय था कि यदि देश चाहता तो पूर्ण रूप से संगठित होकर विदेशियों को इस भूमि से बाहर कर देता अथवा उनका धर्म-परिवर्तन करा कर अपने में आत्मसात् कर लेता, किन्तु छोटे-छोटे स्वार्थों से पीड़ित हमारी जनता और हमारे शासक अपने संकुचित और व्यक्तिगत मान-सम्मान में इतनी बुरी तरह से उलझे रह गये कि वे संगठित नहीं हो सके और इस भयानेक राजनीतिक भू-कम्प को सम्हाल नहीं सके। जब वीरत्व की भावना समष्टि का परित्याग कर व्यष्टि में केन्द्रित होने लगती है तब अनेक व्यक्तियों के सम्मान के अपने अलग-अलग स्तर बन जाते हैं और उनमें पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता और होड़ होने लगती है। परिणाम यह होता है कि परस्पर ईर्ष्या और द्वेष के अनेक व्यूह निर्मित हो जाते हैं जो सरलता से तोड़े नहीं जा सकते। यहाँ तक कि विदेशी आक्रामकों के समक्ष भी व्यक्तिगत आत्म-सम्मान के अलग-अलग घरौंदे बने रहते हैं जिन्हें विदेशी-शत्रु अपने नवीन संगठन से हलके-से पद-प्रहार से ही तोड़ सकता है। परिस्थिति ऐसी ही ज्ञात होती है जैसी सूर्य की किरण के रंगों को अलग-अलग बाँट कर रख दिया गया हो। उनमें व्यष्टिगत आभा कितनी ही हो, उनके परस्पर सम्मिलित होने पर जो प्रकाश और आलोक होना चाहिए, वह नहीं होता।

परिणाम-स्वरूप कालान्तर में हमारे स्वतन्त्र राष्ट्र-स्तम्भ या तो भू-लुंठित हुए या खण्ड-शेष रह कर किसी दूसरे सिंहासन के आधार-पीठ बने। लेकिन इतना सब होने पर भी वे परस्पर संगठित नहीं हो सके। विदेशी शासकों की छाया में वे अपनी स्वतन्त्रता के शव को छाती से लगाए रहे और उनके आश्रित भट्ट और चारण उसी स्वतन्त्रता के अवशिष्ट चिह्न को लेकर वीरता के गीत गाते रहे। कुछ नरेश ऐसे अवश्य हुए जो अपने बाहु-बल से इस भस्म-पुंज में से चिनगारी की भाँति निकले और चारों ओर की परिस्थितियों को प्रज्वलित कर लपट के रूप में दहकते रहे। किन्तु ऐसे स्वतन्त्र राष्ट्रों को उठाने वाले वीरों की संख्या कम ही रही। आदि काल में पृथ्वीराज चौहान और मध्य काल में महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी और महावीर छत्रसाल जैसे थोड़े ही नरेश थे जिन्होंने वास्तविक रूप से स्वतन्त्रता की रक्षा में अपने अद्भुत शौर्य और अदम्य साहस का परिचय दिया।

विदेशियों के आगमन की प्रतिक्रिया में आदि काल से ही राजनीति में राष्ट्रीयता की भावना स्थान पाने लगी थी। बारहवीं शताब्दी में अपभ्रंश के जैन

पुत्ते जाए कवणु गुणु, अवगुण कवणु मुएणु।
जा बप्पी की भुंहड़ी, चम्पिज्जइ अवरेणु ॥

(ऐसा पुत्र होने से क्या लाभ और मरने से क्या हानि जिसने अपने पिता की भूमि दूसरे के द्वारा अधिकृत हो जाने दी।)

वीरत्व की भावना के साथ राष्ट्रीयता की भावना भी हमारे देश की प्रशस्त परम्परा की पोषिका है। रामायण काल में इक्ष्वाकु के उत्तराधिकारी सारी वसुन्धरा के स्वामी थे।

सर्वपूर्वमियं येषामासीत्कृत्स्ना वसुन्धरा।

महाभारत-काल में तो इस देश का नाम 'भारतवर्ष' निर्धारित हो चुका था। यही नहीं उस समय क्षत्रिय लोग 'भारत' नाम से सम्बोधित भी होते थे।

तस्मात् युद्धस्व भारत।

इस देश में राष्ट्रीयता का दृष्टिकोण सदैव ही संस्कृति से सम्बद्ध रहा है। संस्कृति के विस्तार से ही देश में एकता की सृष्टि होती है। जब यह एकता अपने जातीय जीवन अथवा पैतृक मूल्यों की रक्षा के लिए स्वाभिमान के साथ क्रान्ति की घोषणा करती है, तब राष्ट्रीयता की रूप-रेखा का निर्माण होता है। राष्ट्रीयता के लिए देश की अथवा राज्य की इकाई होना आवश्यक है। यह बात दूसरी है कि विभिन्न युगों में देश अथवा राज्य की सीमाएँ घटती-बढ़ती रहीं हैं। इन सीमाओं के अनुपात में ही राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण में अन्तर आता रहा है। राजनीति और राष्ट्रीयता जब एक दूसरे में अपना प्रतिबिम्ब देखने लगती हैं, तभी देश और उसके निवासियों का कल्याण होना सम्भव है। राजनीति और स्वार्थपरता किसी नरेश को एक ओर विलासी बना देती हैं, तो दूसरी ओर राजनीति और राष्ट्रीयता उसी को देश के सम्मान पर अपने प्राणों की बलि चढ़ा देने के लिए प्रेरित करती है। इस भाँति राजाओं के दो वर्ग हो जाते है। प्रथम आत्माभिमानी और द्वितीय देशाभिमानी।

कभी-कभी यह भी संभव हो जाता है कि आत्माभिमानी नरेश अपने पड़ोसी बन्धु-राज्यों से युद्ध कर राष्ट्रीयता की घोषणा करने लगते हैं। परस्पर के इस युद्ध से दोनों राज्यों की शक्ति क्षीण होती है और वे आसानी से किसी तीसरे आक्रमण-कारी के शिकार हो जाते हैं। दोनों ही अवसरों पर राज्य-रक्षा के लिए वीरों के

हृदय में उत्साह भरने के लिए भाटों और चारणों द्वारा वीर रस की रचनाएँ प्रचुर मात्रा में लिखी जाती हैं। जब कभी पड़ोसी राज्यों के परस्पर के युद्ध में वीर रस की रचनाएँ लिखी जाती हैं तो ऐसे अवसर पर राष्ट्रीयता अधिकतर वीर-पूजा की भावना में ही सीमित रह जाती है।

हिन्दी साहित्य की ग्यारहवीं शताब्दी के वीर-गाथा-काल में चारणों और कवियों की जो रचनाएँ मिलती है, उनमें विदेशी आक्रामकों के विरोध में समस्त देश के संगठन का स्वर नहीं है, वरन् अपने आश्रय-दाताओं की वीरता और पराक्रम की ही अधिक ध्वनि है। इस प्रकार की कविता में वीर-पूजा की भावना ही मूर्तिमती हुई है। इसका फल यह हुआ कि जनता का ध्यान देश और राष्ट्र की ओर न होकर एक व्यक्ति में ही केन्द्रित हो गया। उस व्यक्ति की महानता को अधिक से अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए ऐसी अतिशयोक्तियों का प्रयोग होता है कि वह लौकिकता के धरातल से उठकर अलौकिकता के व्योम में विचरण करने लगता है। बार-बार ऐसे प्रसंग चित्रित किये जाते हैं जिनमें चरित्र-नायक के ऐश्वर्य, शौर्य, दान-शीलता, उदारता आदि की प्रशंसा रहती है। इससे चरित-नायक प्रसन्न होकर कवि या चारण को मुक्त हस्त से दान देता है। फल-स्वरूप कविता में अतिशयोक्तियों की भरमार रहती है और कवि दान अथवा धन के लोभ में एक काल्पनिक चित्र खींचता है जिसका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

जहाँ कवि अथवा चारण अपने आश्रय-दाता के बाहरी वैभव तथा ऐश्वर्य की झाँकी उपस्थित करता है वहाँ कविता एक शाब्दिक इन्द्रजाल बन कर रह जाती है लेकिन जहाँ उसके द्वारा आश्रय-दाता के वास्तविक चरित्र, स्वभाव, व्यवहार आदि की गहरी मीमांसा होती हैं, वहाँ काव्य को सत्य का सौन्दर्य प्राप्त हो जाता है। ऐसे प्रसंगों पर वीर रस के जिन विविध प्रकारों का उल्लेख किया जाता है, उनमें वास्तविक कविता के दर्शन होते हैं।

कला-काल में वीर रस से सम्बन्धित काव्य प्रचुर मात्रा में है। यदि कहा जाय कि अन्तःपुर के श्रृंगार रस से उसकी प्रतिद्वन्द्विता है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। सत्रहवीं शताब्दी में यद्यपि राजनीति कला-कौशल के विलास में अपनी परुषता खो चुकी थी तथापि इसका यह तात्पर्य नहीं कि राजनीति बिलकुल ही निष्प्राण हो चुकी थी। अब भी विद्रोह उठते थे, युद्ध लड़े जाते थे, हजारों और लाखों सैनिक तलवार के घाट उतार दिए जाते थे और विविध राज्यों में वैनमस्य का

विष पतली-पतली शिराओं में इस समय भी संचरित होता था। ऐसी स्थिति में युद्ध के निमंत्रण पर आक्रमण को रोकने के लिए तथा आत्म-रक्षा के लिए अथवा दूसरे शत्रु पर आक्रमण करने के लिए वीर रस की कविता युद्ध की ललकार की तरह गूंज उठती थी ? किसी भी राजा या सामन्त के आश्रय में पोषित होने वाला कवि शान्ति और विलास के अवसरों पर शृंगार रस की ज्योत्स्ना से आश्रय-दाता के विलास-कक्ष में अमृत और प्रकाश की वर्षा कर देता था तथा युद्ध और संग्राम के अवसरों पर अपनी कविता में रुद्र का हुंकार और भूत-पिशाचों का क्रीड़ा-कौतुक प्रतिध्वनित कर देता था। जो नरेश विलासी नहीं थे उनके आश्रित कवि उनके व्यक्तिगत शौर्य, पराक्रम और आतंक के चित्र खींच कर उन्हें रण-जयी और शत्रु-हन्ता चित्रित करते थे। वीर रस की यह कविता इस युग की अलग विशेषता है।

वीर रस के चार भेदों में युद्ध-वीर, दान-वीर, धर्म-वीर और दया-वीर की स्थिति है। प्रत्येक में उत्साह स्थायी भाव है। कवियों द्वारा रस के विविध अंगों के यत्किंचित् परिवर्तन से इन भेदों की विशेषता हो जाती है। नीचे की तालिका से यह अन्तर स्पष्ट हो जायगा।

रस	स्थायी भाव	आलम्बन	उद्दीपन	अनुभाव	संचारी
युद्ध-वीर	युद्ध में उत्साह	शत्रु का वैभव	शत्रु की शक्ति, मारू बाजा तथा कोलाहल	ललकार और गर्वोक्ति, अंग-स्फुरण	उग्रता, धृति, तर्क, गर्व, रोमांच आदि
दान-वीर	त्याग में उत्साह	दान के सुपात्र	सद्गुण और योग्यता	हर्ष, सन्तोष	मति, धृति
धर्म-वीर	धर्म में उत्साह	धर्म अथवा धर्म की प्रेरणा	यज्ञ, जप, हवन	धर्म का आचरण, भक्ति, ज्ञान	स्मृति, रोमांच
दया-वीर	दया में उत्साह	सत्पात्र	दीनता, हीनता	सहानुभूति-प्रदर्शन	धृति, स्मृति

उत्साह का रूपान्तर ही प्रमुख रूप से वीर रस की कोटि निर्धारित करता है। स्थायी भाव के अनुसार अन्य रसाङ्गों में संशोधन हो जाता है, संचारी भाव किसी न किसी प्रकार से न्यूनाधिक रूप से एक-से ही रहते हैं।

प्रत्येक के उदाहरण से रस का रूप स्पष्ट हो जायगा।

युद्ध-वीर

दुग्ग पर दुग्ग जीते सरजा सिवाजी गाजी,
उग्ग पर उग्ग नाचे रुंड मुंड फरके।
भूषन भनत बाजे जीत के नगारे भारे,
सारे करनाटी भूप सिंहल को सरके।
मारे सुनि सुभट पनारे वारे उदभट,
तारे लगे फिरन सितारे गढ़ धर के।
बीजापुर वीरन के गोलकुंडा धीरन के,
दिल्ली उर मीरन के दाड़िम से दरके॥

दान-वीर

सम्पति सुमेर की कुबेर की जु पावै ताहि,
तुरत लुटावत विलम्ब उर धारै ना।
कहै पदमाकर सो हेम हय हाथिन के,
हलके हजारन के बितर बिचारै ना।
गंज गज बकस महीप रघुनाथ राव
पाय गज धोखे कहूँ काहू देइ डारै ना।
याही डर गिरिजा गजानन को गोय रहीं,
गिरि तें गरे तें निज गोद तें उतारै ना॥

धर्म-वीर

राखी हिन्दुवानी हिन्दुवान को तिलक राख्यो,
अस्मृति पुरान राखे वेद विधि सुनी मैं।
राखी रजपूती राजधानी राखी राजन की,
धरा में धरम राख्यो राख्यो गुन गुनी मैं।
भूषन सुकवि जीति हद्द मरहट्टन की,
देस-देस कीरति बखानी तब सुनी मैं।
साहि के सपूत सिवराज समसेर तेरी,
दिल्ली दल दाबि कै दिवाल राखी दुनी मैं॥

दया-वीर

वेद राखे विदित पुरान परसिद्ध राखे,
राम नाम राख्यो अति रसना सुघर में।

हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे मैं जनेऊ राख्यो माला राखी गर में।
मीड़ि राखे मुगल मरोड़ि राखे पातसाह,
बैरी पीसि राखे बरदान राख्यो कर में।
राजन की हद्द राखी तेग बल सिवराज
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर में॥

वीर रस के संदर्भ में हिन्दी के कवियों ने अपने आश्रय-दाता नरेशों से सम्बन्धित जो घटनाएँ निर्दिष्ट की हैं, वे इतिहास की आधार-पीठिकाएँ कही जा सकती हैं। आवश्यकता केवल इस बात की है कि ऐसी सामग्री अतिशयोक्तियों के आवरण के मुक्त कर उसके वास्तविक सन्दर्भ में परखी जाय। तत्कालीन कवियों द्वारा उल्लिखित इन ऐतिहासिक वृत्तों की परिधि निश्चित करने की आवश्यकता है।

(ज) हास-परिहास और व्यंग्य

कला-काल की साहित्य-रचना जैसे किसी शिल्पी की कलित कल्पना है। उसमें वैभव-विलास की रंगशाला है और प्रेम तथा अनुराग की यवनिकाएँ। राजसी और सामन्ती जीवन की इतनी उज्ज्वल ज्योत्स्ना है कि जन-जीवन के विषाद का एक भी बादल इतने बड़े काव्याकाश में कहीं दृष्टिगत नहीं होता। कवि पदमाकर ने एक कवित्त में उस वैभव की एक छोटी-सी झाँकी दिखलाने की कृपा की है :—

गुलगुली गिलमैं, गलीचा, गुनीजन अहैं,
चाँदनी हैं, चिकें हैं, चिरागन की माला हैं।
कहै पदमाकर त्यों गजक गिजा हैं सजी
सेज हैं, सुराही हैं, सुरा है और प्याला हैं।
सिसिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हें,
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।
तान तुक ताला हैं, बिनोद के मसाला हैं,
सुबाला हैं, दुसाला हैं, बिसाला चित्रसाला हैं॥

जहाँ सामन्ती जीवन के इतने ठाट-बाट हैं, वहाँ उन निर्धनों और अकिंचनों की बात कहाँ है जिन्हें तन ढकने के लिए एक भी वस्त्र नहीं हैं ? कला-काल के कवि जो इन राजाओं और सामन्तों के आश्रय में स्वयं राजा या सामन्त बने हुए हैं, किस भाँति अपने विलास-मय काव्य का एक छींटा भी सामान्य जन-जीवन की स्थिति का चित्रण करने के लिए व्यय करेंगे ! उन्होंने जैसे अपने और लोक-जीवन के बीच

एक ऐसा दुर्भेद्य प्राचीर खींच लिया है जिससे भूले-भटके उनकी दृष्टि उस अभाव-ग्रस्त जीवन की ओर न जा सके, जो इस सामन्तवादी जीवन के नीचे पड़ा कराह रहा है। जिस समाज की नारियाँ अपने दुधमुँहे बच्चे को भोजन देने में स्वयं निराहार रह रही हैं, उस समाज के कवियों द्वारा नायिका-भेद लिखा जाता है ! जिस ग़रीब परिवार का शरीर दुर्बल और वस्त्र-विहीन है, उसके साहित्य में नख-शिख वर्णन और वस्त्राभूषणों की अपरिमित संख्या का निर्देश होता है ! जिस समाज के शोषित व्यक्तियों की सभी ऋतुएँ एक समान हो गई हैं, वहाँ के साहित्य में षट्-ऋतु का वैभव नाना प्रकार के प्रसाधनों के साथ होता है ! ज्ञात होता है कि राज्याश्रय की भूख ने इन कवियों को समाज से बहुत दूर हटा दिया था और उनकी आँखों में स्वर्ण-राशियों ने इतनी चकाचौंध उत्पन्न कर दी थी कि वे अपने पास पड़ा हुआ मानव नहीं देख सकते थे। काव्य की इस गरिमा-मण्डित भूमि पर जैसे एक बहुत बड़ी मधुशाला बनी थी जिसमें प्रत्येक कवि सुबह से लेकर शाम तक आनन्द और वैभव के प्याले पी-पी कर अपनी सुध-बुध खो चुका था।

धार्मिक काल में राजाश्रय की बात नहीं थी। हमारे संत कवि जनता के सच्चे प्रतिनिधि थे और उन्होंने समस्त जन-जीवन को राम और कृष्ण-मय कर दिया था। उन्होंने जनता को भक्ति और विश्वास का ऐसा सुदृढ़ कवच दिया था कि विधर्मियों की तीखी तलवार भी उन पर पड़ कर कुंठित हो गई थी। उन्होंने अपनी निर्धन को भी भक्ति का बहुत बड़ा धन बना लिया था और फल-स्वरूप उनके राम निर्बल के बहुत बड़े बल बन गये थे। कला-काल में देश और समाज की वाणी जनता की झोपडियों से निकल कर राज-भवन में समा गई।

एक आश्चर्य की बात अवश्य है कि इस युग के कवि विलास और वैभव की तो बहुत-सी बातें कह सके किन्तु हास और परिहास की बात नहीं कह सके। निश्चिन्त जीवन और स्वच्छन्द प्रकृति तो हास-परिहास में सहज ही प्रस्फुटित होती है किन्तु ऐसा ज्ञात होता है कि विलास और वैभव की मात्रा इतनी अधिक बढ़ गई थी कि सहज हास्य के लिए वृत्तियाँ अन्यमनस्क हो उठीं थीं। मुसलमानी शासन की स्थापना पर जब जन-साहित्य चारणों के वीर-काव्य और भक्त-कवियों के ग्यान-वैराग्य की मर्मस्पर्शी कथाएँ कह रहा था, उस समय बलबन के पुत्र मुहम्मद का शिक्षक अमीर खुसरो अट्टहास के स्वरों में पहेलियाँ, मुकरियाँ, दो-सखुने और ढकोसले कह रहा था। शासक के उल्लास की ध्वनि जैसे वह साहित्य में प्रतिध्वनित कर रहा था। किन्तु कला-काल के कवि विलास के वैभव में हँसने का अवकाश नहीं पा रहे थे। ज्ञात होता है कि अपने कृत्रिम जीवन के स्वर्णिम मनोभावों में वे अपनी सहज हँसी भूल गये थे।

कुछ राजश्री कवि ऐसे अवश्य थे जिन्होंने कृत्रिम हँसी हँसने की चेष्टा की।

ऐसे कवियों में महाकवि बिहारी अग्रणी हैं। चित्रों की पूर्णता की प्रतिद्वंद्विता करने वाले उनके दोहे, कभी-कभी ऐसी परिस्थितियों की कल्पना कर लेते हैं जिनमें उनके आश्रयदाता का मनोरंजन हो सके। ऐसी परिस्थितियाँ अधिकतर नायिका के विरह-वर्णन की हैं। इस विरह-वर्णन से उतना हास्य का उद्रेक नहीं होता जितना कवि-कल्पना या कवि की कथन-शैली या सूझ से। जैसे ये दोहे श्रोता के मुख से 'वाह' कहलाने के लिए ही लिखे गये ज्ञात होते हैं :—

(१) **आड़े दै आले बसन, जाड़े हू की रात।**
साहस ककै सनेह बस अली सबै ढिग जात॥

(२) **औंधाई सीसी सु लखि बिरह बरी बिललात।**
बीचहिं सूखि गुलाब गो छींटौ छुई न गात॥

(३) **करी विरह ऐसी तऊ गैल न छाँड़त नीचु।**
दीने हु चसमा चखनि चाहै लखै न मीचु॥

(४) **इत आवत चलि जात उत चली छ सातक हाथ।**
चढ़ी हिंडोरे सी रहै, लगी उसासन साथ॥

ये उक्तियाँ अपनी कथन-शैली में चमत्कार भले ही प्रस्तुत कर दें, मुक्त हास्य की उमंग उत्पन्न नहीं कर सकतीं।

यह दुर्भाग्य की बात है कि तत्कालीन इस्लामी शासन ने दृश्य काव्य को कोई प्रोत्साहन नहीं दिया यद्यपि अन्य ललित कलाएँ उसके आश्रय में पलती रहीं। दृश्य-काव्य का आकर्षण न रहने के कारण हमारे कवि संस्कृत के पूर्ववर्ती कवियों और आचार्यों के काव्य-सिद्धान्त तो ग्रहण कर सके, आचार्य भरत के नाट्य-शास्त्र की कोई विभूति प्राप्त नहीं कर सके। यदि इन कवियों को दृश्य-काव्य की प्रेरणा प्राप्त हुई होती तो वे हास्य की स्वाभाविक मनोवृत्ति अवश्य ही प्राप्त कर पाते।

प्राचीन दृश्य-काव्य में हास्य का विधान दो रूपों में किया जाता था। एक तो विदूषक की उक्तियों में और दूसरे प्रहसन की परिस्थितियों में। इस प्रकार पात्रों की वार्ता और परिस्थितियाँ दोनों ही हास्य की अवतारणा करती थीं। नाटक में विदूषक नायक का सहचर था। जिन नाटकों में शृंगार रस प्रधान होता था, उनमें विदूषक आवश्यक हो जाता क्योंकि आचार्य भरत ने—

'शृंगाराद्धि भवेद्धास्यः'।

सूत्र में हास्य की उत्पत्ति शृंगार से ही मानी थी। धीरोदात्त नायक जब-जब प्रेम के झंझावात में तिनके की तरह अव्यवस्थित होता था, तब-तब उसका

मनोरंजन करने के लिए अथवा आशा देने के लिए विदूषक अपने हास्य का प्रयोग करता था। किन्तु हास्य केवल शृंगार से ही प्रेरणा नहीं पाता, जीवन की अनेक परिस्थितियों से बल ग्रहण करता है। अभिनवगुप्त ने अनौचित्य प्रवृत्ति में हास्य का मूल माना है। अनौचित्य प्रवृत्ति प्रत्येक रस के उद्दीपन या आलम्बन में हो सकती है। अतः प्रत्येक रस में हास्य की संभावनाएँ हो सकती है।

आचार्य भरत ने हास्य के दो विभाग किये हैं, आत्मस्थ और परस्थ। जब पात्र स्वयं हँसता है तो आत्मस्थ है और जब दूसरे को हँसाता है तो परस्थ है। पंडितराज जगन्नाथ ने इसका विवेचन दूसरे ढंग से किया है; हास्य के विभाव को देखने से जो हास्य उत्पन्न होता है, वह आत्मस्थ है और किसी अन्य को हँसता हुआ देखकर जो हास्य उत्पन्न होता है, वह परस्थ है।

वस्तुतः अपने प्रभाव की दृष्टि से हास्य तीन प्रकार का माना गया है, उत्तम, मध्यम और अधम। इन तीनों प्रकारों में प्रत्येक के दो भेद हैं। उत्तम के भेद हैं स्मित और हसित, मध्यम के भेद हैं विहसित और अवहसित तथा अधम प्रकार के भेद हैं अपहसित और अतिहसित। प्रत्येक भेद आत्मस्थ और परस्थ हो सकता है। इस प्रकार निम्न प्रकार से हँसने की क्रिया बारह तरह से हो सकती है :—

हास्य के जो छः विशिष्ट प्रकार हैं, उनकी विशेषता निम्नलिखित है :—

१. स्मित—शब्द-रहित मन्द मुस्कान।
२. हसित—मुस्कान के साथ दन्त-दर्शन।
३. विहसित—दन्त-दर्शन के साथ मधुर शब्द।
(स्त्रियों के कंठ में 'ई' स्वर)
(पुरुषों के कंठ में 'आ' 'ऊ' या 'ओ' स्वर)

४. अवहसित—मधुर शब्द के साथ शरीर-संचालन ।
५. अपहसित—शरीर संचालन के साथ हर्षाश्रु ।
६. अतिहसित—हर्षाश्रु के साथ ताली और अट्टहास ।

हास्य के ये प्रकार हँसने के मनोभावों के विकास के आधार पर ही हैं । इस विकास में अनुभावों की रूप-रेखा भी दृष्टि में रखी गई है । किन्तु जब हास्य के क्रोड़ में विनोद मात्र न होकर कोई छल हो, प्रकट-हो-गई वस्तु को छिपाने का भाव हो अथवा ध्वनि-विकार या श्लेष से अभिप्राय का रूपान्तर हो तो वह 'हास्य' रहते हुए भी एक नवीन कोटि की सृष्टि करेगा । हास्य के इस रूपान्तर को हमारे यहाँ के आचार्यों ने 'रस' के अन्तर्गत न रख कर अलंकार के अन्तर्गत रक्खा है । यही कारण है कि हमारे अलंकार-ग्रन्थों में हास्य की इस कोटि को व्याजोक्ति, अप्रस्तुत-प्रशंसा और वक्रोक्ति आदि अलंकारों द्वारा व्यक्त किया गया है । आचार्य मम्मट ने इन अलंकारों के लक्षण निम्न प्रकार से दिये हैं :—

व्याजोक्ति— **व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्न यस्तु रूप निग्रहणम् ॥१०॥ ११८**
(प्रकट की हुई वस्तु को छल से गोपन किया जाय ।)

अप्रस्तुत प्रशंसा—**अप्रस्तुत प्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ॥१०॥ ९८**
(प्रस्तुत आश्रय के साथ अप्रस्तुत का वर्णन हो ।)

वक्रोक्ति— **यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथान्येन योजते ।**
श्लेषेणवाक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथाद्विधा ॥९॥ ७८

(इस प्रकार से कहा हुआ वाक्य श्लेष अथवा ध्वनि-विकार से दूसरे प्रकार के अभिप्राय से जोड़ दिया जाय ।)

इसी प्रकार लक्षणा या व्यंजना भी लक्ष्य या व्यंग्य (ध्वनि) से हास्य की उत्पत्ति कर सकती है ।[1]

दृश्य-काव्य की प्राचीन परम्परा से कोई प्रेरणा ग्रहण न कर सकने के कारण इस कला-काल के कवि हास्य की स्वाभाविक स्फूर्ति ग्रहण नहीं कर सके । रसों के अन्तर्गत हास्य रस अवश्य है किन्तु वे उस हास्य की यांत्रिक उपलब्धियाँ ही प्राप्त कर सके ।

हास्य का स्थायी भाव 'हास' है । अनुचित कथन और असम्बद्धता इसका उद्दीपन विभाव है तथा इनका कथन करने वाले पात्र ही इसके आलम्बन विभाव हैं । मध्य अथवा उच्च-स्वर से हँसना तथा ताली बजाना इसके अनुभाव हैं तथा हर्ष, चपलता आदि इसके संचारी भाव हैं ।

---

१. मेरी पुस्तक 'रिमझिम' के 'ये मेरे छोटे नाटक' से, पृष्ठ ८,९,१०

रस का निर्वाह करने की दृष्टि से कवियों ने अधिकतर असम्बद्ध कथन और चमत्कार-पूर्ण अनुचित कथन को ही हास्य का आधार मान लिया है। मोहन कवि का एक कवित इस बात की पुष्टि करता है:—

कबै आप गए थे बिसाहन बजार बीच,
कबै • बोलि जुलहा बिनाये दरपट से।
नन्द जी की कामरी न काहू बसुदेव जू की
तीन हाथ पटुका लपेटे रहे कटि से।
मोहन भनत यामें रावरी बड़ाई कहा,
राखि लीनी आनि-बानि ऐसे नटखट से।
गोपिन के लीन्हें तब चीर चोरि चोरि अब,
जोरि जोरि देन लागे द्रौपदी के पट से॥

इस कवित्त में हास्य की प्रेरणा कम है, सूझ अधिक है।

कला-काल में हास्य की जो थोड़ी-बहुत रचनाएँ मिलती हैं, उनमें अधिकतर देवताओं पर व्यंग्य है, सृष्टि की विचित्रता अथवा विषमता पर आक्रोश है जिसके लिए ब्रह्मा या कर्तार की कस कर ख़बर ली गई है। लौकिक जीवन पर बहुत कम प्रकाश डाला गया है क्योंकि तत्कालीन काव्य राजसी वैभव में पोषित हुआ था।

जिन कवियों को राज्याश्रय प्राप्त हो जाता था, वे तो बहुत ही सुखी और सौभाग्यशाली थे, उनको अपार धन और दान मिलता था। महाकवि केशव को केवल निम्नलिखित सवैये पर राजा बीरबल ने छः करोड़ की हुंडियाँ बख्श दी थीं :—

केशवदास के भाल लिख्यो विधि रंक को अंक बनाय सँवार्‌यो।
धोवै धुवै नहिं छूटो छुटै, बहु तीरथ जाय के नीर पखार्‌यो।
ह्वै गयो रंक ते राव तवै जब बीरबली नृपनाथ निहार्‌यो।
भूलि गयो जग की रचना, चतुरानन बाय रह्यो मुख चार्‌यो॥

इसी प्रकार कवि हरनाथ को बाँधवगढ़-नरेश राजा रामचन्द्र बघेला ने एक सवैया पर एक लाख रुपया दिया था—

आज लौं तोसों औ मोसों विपत्ति बढ़ी रही प्रीति की रीति सहेली।
तो हित झार पहार मझाय कै आय के देख्यौ है भूमि बघेली।
श्री हरनाथ सों मान करै मत, मेरी कही यह मान लै हेली।
भेटत हों रजा राम नरेसहिं भेटि लै री फिरि भेटहु हेली॥

किन्तु सभी कवि भाग्यवान नहीं थे जिन्हें बड़े-बड़े राजे-महाराजे आदर और दान देते। जिन कवियों को दान नहीं मिलता था, वे उन राजाओं की हँसी

उड़ाते थे, उन पर व्यंग्य कसते थे, और यह स्वाभाविक है कि दान पाने वाले कवियों की अपेक्षा दान न पाने वाले कवियों की संख्या बहुत अधिक रहती थी। दान न पाने पर कवियों ने जो व्यंग्य और परिहास की रचनाएँ लिखी हैं उनसे ही इस हास्य रस का थोड़ा-बहुत पोषण हुआ है। इसी सन्दर्भ में सूम व्यक्तियों की खिल्ली भी उड़ाई गई है। हास्य और व्यंग्य के दो-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे—

हास्य

(अरसिक राजा)

खाय के पान बिदोरत ओंठ हैं, बैठि सभा में बने अलबेला।
धोती किनारी की सारी सी ओढ़त, पेट बढ़ाय कियो जस थैला।
बंशगुपाल बखानि कहैं, सुनो भूप कहाय बने फिरें छैला।
सान करें बड़ी साहबी की अरु दान में देत न एक अधेला॥

(सूम)

—दाता घर होती तो कदर तेरी जानी जाती
आई है भले घर बधाई बजवाव री।
खाने तहखाने में आनि कै बसेरो लेहु,
होहु ना उदास चित चौगुनो बढाव री।
खैहों, ना खवैहों मरि जैहों तो सिखाय जैहों,
यही पूत नातिन को आपुने सुभाव री।
दमरी न दैहों, कबौ जान में भिखारिन कों,
सूम कहै संपति सों बैठि गीत गाव री॥

व्यंग्य

दानी कोउ नाहिना, गुलाबदानी गोंददानी,
पीकदानी धनी शोभा इनही में लहै हैं।
मानत गुणी को गुण ही में प्रगटत देख्यो,
या तें गुणीजन मन सावधानी गहै हैं।
हयदान, हेमदान, गजदान, भूमिदान,
सुकबि सुनाये और पुरानन में कहे हैं।
अब तौ कलमदान, जुजदान, जामदान,
खानदान, पानदान कहिबे को रहे हैं॥

चतुर्थ प्रकरण

लोक-जीवन

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि कला-काल में वैभव-विलास के अतिरेक ने शिष्ट जीवन और शिष्ट साहित्य को इतनी कृत्रिमता दे दी थी कि सामान्य लोक-जीवन के चित्रण की प्रेरणा के लिए कोई विशेष स्थान नहीं रह गया था। राजाश्रय में पोषित होने वाले कवियों को अपने आश्रयदाता की विलासमयी प्रवृत्ति के अनुसार ही काव्य-रचना करनी पड़ती थीं। उसकी भाव-भंगिमा ही उनके काव्य की दिशा निर्धारित कर देती थी। भू-स्वामी ही उनका हृदय-स्वामी था क्योंकि उसकी प्रसन्नता से अतुल दान, वैभव और जीवन की समस्त सुविधाएँ प्राप्ति होती थीं। ऐसी स्थिति में सामान्य लोक-जीवन का चित्रण करने की सुविधा, प्रवृत्ति और प्रेरणा कहाँ से प्राप्त हो सकती थी ?

वीर रस में विश्वास करने वाले कवियों के समक्ष वीर-पूजा का आदर्श था। नायक उनका भी हृदय-नायक था। उसके शौर्य और विजय-वैभव में कवियों की काव्य-लक्ष्मी अभिषेक का तिलक करने के लिए परिचारिका की भाँति राज्य-द्वार में खड़ी रहती थी। काव्य के समस्त अलङ्कार ऐसे वीरों के प्रत्येक गुण का अलंकरण करने के लिए यथा-स्थान सुसज्जित हो जाते थे। काव्य की समस्त रसात्मकता वीरों के मुखमण्डल के चारों ओर आभा-चक्र निर्मित करने में किरणों की भाँति फैल जाती थी। इस प्रकार राजाश्रय लोक-जीवन से विरक्त हो जाने के लिए एक आग्रहपूर्ण निमंत्रण ही था। यदि एक रूपक में कहा जाय तो उस काल का साहित्य मानव-शरीर के केवल मुख-मण्डल का श्रृंगार करते हुए उस पर मुकुट सुसज्जित करता था जब कि शेष शरीर स्नेह-रहित होकर रूखा-सूखा ही पड़ा रहता था।

राजाश्रय से विहीन कवियों की प्रवृत्ति अस्थिर थी। एक स्थान से निराश होने पर दूसरे स्थान पर सम्मानित होने की लालसा उन्हें लोक-जीवन में रुचि लेने की स्थिति में नहीं रहने देती थी। उन्हें राजाओं की अरसिकता, गुण-ग्रहण करने की हीनता और अक्षमता तथा दान न देने की प्रवृत्ति परिहास और व्यंग्य की ओर ही प्रेरित करती थी। यहाँ तक कि दान देने के डर से कोई राजा 'द' का उच्चारण भी नहीं करता था। इस सन्दर्भ में एक निराश कवि घासीराम कहता है :—

देवता को सुर और असुर कहें दानव को,
दाई को सुधाय दार पै तियै लहत हैं।

दर्पब को आरसी त्यों, दाख को मुनक्का कहै,
दास को खवास आम खास विचरत हैं।
देवी को भवानी और देहरा को मठ सदा
याही विधि घासीराम रीति आचरत हैं।
दाना को चबैना, दीपमाला को चिराग जालि,
दैबे के डरन कबौं ददा न कहत हैं।

कुछ कवि ऐसे अवश्य थे जिन्हें राजाश्रय की अधिक चिन्ता नहीं थी। ऐसे ही कवियों के द्वारा थोड़ा-बहुत लोक-जीवन पर प्रकाश पड़ा है। ऐसे कवि अधिकतर नीतिकार ही थे। नीति-कथन के सन्दर्भ में उन्होंने जो कुछ समाज के लिए लिखा, उससे लोक-जीवन के छिट-पुट चित्र हमें प्राप्त हो जाते हैं। ऐसे कवियों में रहीम, घाघ और भडड्री, गिरिधरदास आदि का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है।

अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना स्वयं एक राजनीतिक महापुरुष थे। उन्हें किसी प्रकार के दान की आवश्यकता नहीं थी। वे सच्चे अर्थ में कवि थे। उन्होंने अनेक शैलियों और छन्दों में कविता लिखी। उनके विषयों में नीति, श्रृंगार और भक्ति की रचनाएँ प्रमुख हैं। इन्हीं रचनाओं में सन्दर्भानुसार उन्होंने लोक-जीवन की कुछ झाँकियाँ उपस्थित करने की चेष्टा की। उनके 'बरवैनायिका भेद' में कुछ चित्र अवश्य सुन्दर हैं जो उन्होंने नायिका-भेद के प्रसंग में लिखे हैं। कुछ चित्र नीचे देखें :—

भविष्य सुरति-गोपना

होइ कत कारि बदरिया, बरखहि पाथ।
जैहों घन अमरैया, संग न साथ॥
जैहों चुनन कुसमियाँ, खेत बड़ दूरि।
बरिआ केर छोहरिया, मोहि सँग कूरि॥

क्रिया-विदग्धा

बाहिर लैके दियवा, बारन जाय।
सासु ननद ढिग पहुँचत, देत बुझाय॥

मुदिता

जैहों काल नेवतवा, मो दुख दून।
गांव करेसि रखवरिया, सब घर सून॥

सामान्य रूप से लिखे गए कुछ बरवै छन्दों में भी लोक-जीवन के कुछ चित्र मिलते हैं :—

होरी पूजत सजनी, जुर नर नारि।
हरि बिनु जानहु जिय में दई दवारि ॥
लोग लुगाई हिल-मिल खेलत फाग।
पर्‌यो उड़ावन मोकों, सब दिन काग ॥
पथिक आय पनघटवा, कहत पियाब।
पैयाँ परों नैनदवा, फेरि कहाब ॥

लोक-जीवन में प्रचलित कुछ उत्सवों के चित्र अधिकतर इस प्रकार के उद्धरणों में देखे जा सकते हैं।

कवि रहीम ने 'नगर-शोभा' के सन्दर्भ में विविध जातियों के चित्र खींचे हैं। शृंगार रस की लेखनी से सभी श्रेणियों की नारियाँ उन चित्रों में उपस्थित की गई हैं :—

१. ब्राह्मणी— उत्तम जाती ब्राह्मनी, देखत चित्त लुभाय।
परम पाप पल में हरत, परसत वाके पाय ॥

२. खतरानी— रूप, रंग, रति, राज में खतरानी इतरान।
मानों रची विरंचि पचि, कुसुम कनक में सान ॥

३. जौहरिन— कबहुँ दिखावै जौहरनि, हँसि हँसि मानिक लाल।
कबहूँ चख ते च्वै परै, टूटि मुकुत की माल ॥

४. कैथिनि— कैथिनि कथन न पारई प्रेम-कथा मुख बैन।
छाती ही पाती मनों, लिखै मैन की सैन ॥

५. चितेरिनि—चतुर चितेरिन चित हरै, चख खंजन के भाइ।
द्वै आधो करि डारई, आधो मुख दिखराइ ॥

६. बरइन— सुरँग बरन बरइन बनी, नैन खवाये पान।
निस दिन फेरै पान ज्यों, विरही जन के प्रान ॥

७. बनियांइन— बनियांइन बनि आइकै, बैठि रूप की हाट।
पेम पेक तन हेरि कै, गरुवें टारत बाट ॥

८. रँगरेजिन—रँगरेजिन के संग में, उठत अनंग तरंग।
आनन ऊपर आइयतु, सुरत अन्त के रंग ॥

९. कौंजरी— माटा बरन सु कौंजरी, बेचै सोवा साग।
निलजु भई खेलत सदा, गारी दै दै फाग ॥

१०. बनजारी— बनजारी झुमकत चलत, जेहरि पहिरै पाइ।
वाके जेहरि के सबद, बिरही हर जिय जाय॥

११. कुम्हारि— बर बाँके भाटी भरे, कौंरी बैस कुम्हारि।
द्वै उलटे सरवा मनौ, दीसत कुच्च उनहारि॥

१२. लुहारि— बिरह अगिन निसि दिन धवै, उठै चित्त चिनगारि।
बिरही जियहिं जराइ कै, करत लुहारि लुहारि॥

१३. कलवारि— कलवारी रस प्रेमकों नैननि भरि भरि लेत।
जोबन मदमाती फिरै, अंग छुवन नहिं देत॥

१४ गूजरी— परम ऊजरी गूजरी, दह्यो सीस पै लेइ।
गोरस के मिस डोलही सो रस नेक न देइ॥

१५. काछिनि— काछिनि कछू न जानई, नैन बीच हित चित्त।
जोबन-जल सींचति रहै, काम कियारी नित्त॥

१६. कसाइन— हाथ लिये हत्या फिरै, जोबन गरब हुलास।
धरै कसाइन रैन दिन, बिरही रकत पिपास॥

१७. तेलिन— बेलन तिली सुवास कै, तेलिन करै फुलेल।
बिरही दृष्टि कियो फिरै, ज्यों तेली को बैल॥

१८. पटइन— पाटम्बर पटइनि पहिरि, सिंदुर भरे ललाट।
बिरही नैकु न छाँड़ही, वा पटवा की हाट॥

१९. भटियारी—भटियारी अस लच्छमी, दोऊ एकै घात।
आवत बहु आदर करै, जात न पूछै बात॥

२०. कमाँगरी—करै गुमान कमाँगरी, भौंह कमान चढ़ाइ।
पिय कर गहि जब खैंचई, फिर कमान सी जाइ॥

२१. छीपिन— छीपिन छापौ अधर को, सुरँग पीक भरि लेइ।
हँसि हँसि काम कलोल में, पिय मुख ऊपर देइ॥

२२. सिकलीगरनि-सकल अंग सिकलीगरनि, करत प्रेम औसेर।
करै बदन दर्पण मनों, नैन मसकला फेर॥

२३. सक्किन— करै न काहू की सका, सक्किन जोबन रूप।
सदा सरस जल ते भरी, रहौं चिबुक के कूप॥

२४. गंधिनी— सुरँग बदन तन गँधिनी, देखत दृगन अघाय।
कुच माजू, कुटली अधर, मोचत चरन न आय॥

२५. रजपूतनी—राज करत रजपूतनी, देस रूप के दीप।
कर घूंघट पट ओट कै, आवत पियहिं समीप॥

२६. तुरकिन— चतुर चपल कोमल विमल, पग परसत सतराइ।
रसै ही रस बस कीजियै, तुरकिन तरकि न जाय॥

२७. जोगिन— जोगिन जोग न जानई, परै प्रेम रस माँहि।
डोलत मुख ऊपर किये, प्रेम जटा की छाँहि॥

२८. भाटिन— भाटिन भटकी प्रेम की, हटकी रहै न गेह।
जोबन पर लटकी फिरैं, जोरत तरक सनेह॥

२९. डोमनी— लेत चुराये डोमनी, मोहन रूप सुजान।
गाइ गाइ कछु लेत है, बाँकी तिरछी तान॥

३०. नटनी— बाँस चढ़ी नट बंदनी, मन बाँधत लै बाँस।
नैन बैन की सैन तें, कटत कटाछन साँस॥

३१. पातुरी— प्रान पूतरी पातुरी, पातुर कला निधान।
सुरत अंग चित चोरई, काय पाँच रस बान॥

३२. खटकिन— बिरह बिथा खटकिन कहै, पलकन लावै रैन।
करत कोप बहु भाँत ही, धाइ मैन की सैन॥

३३. कुन्दीगरनि—कुन्दन सी कुंदीगरिन, कामिनि, कठिन कठोर।
और न काहू की सुनै, अपने पिय के सोर॥

३४. धुनियाइन—धुनियाइन धुनि रैन दिन, धरै सुरति की भाँति।
वाकौ राग न बूझही, कहा बजावै ताँति॥

३५. कोरिन— कोरिन कूर न जानई, पेम नेम के भाइ।
बिरही वाके भौन में, ताना तनत भँजाइ॥

३६. दबगरिन— जोबन जुत प्रिय दबगरिन, कहत पीय के पास।
मो मन और न भावई, छाँड़ि तिहारी बास॥

३७. नगारचिन—घेरत नगर नगारचिन, बदन रूप तन साजि।
घर घर वाके रूप कौ, रह्यो नगारा बाजि॥

३८. दलालनी— मन दल मलै दलालनी, रूप अंग के भाइ।
नैन मटकि मुख को चटकि गाँहक रूप दिखाइ॥

३९. ठठेरनी— निस दिन रहै ठठेरनी झाजे माँजे गात।
मुकता वाके रूप कौ, थारी पै ठहरात॥

४०. कागदिन— कागद से तन कागदिन, रहै प्रेम के पाइ।
रीझी भींजी मैन-जल, कागद सी सिथलाइ ॥

४१. मसकरिन— देखन के मिस मसिकरन, पुनि भर मसि खिन देत।
चख टौना कछु डारई, सूझै स्यार्म न सेत ॥

४२. बाजदारनी— बाजदारनी बाज पिय, करैं नहीं तन साज।
बिरह पीर तन यों रहै, जर झकिनी जिमि बाज ॥

४३. जिलादारनी— जिलादारनी अति जलद बिरह अगिन कै तेज।
नाक न मोरे सेज पर, अति हाजर महि मेज ॥

४४. भँगेरनी— सोभा अंग भँगेरनी, सोभित माल गुलाल।
पना पीसि पानी करै, चखन दिखावैं लाल ॥

४५. बाजीगरिन— बाजीगरिन बजार में, खेलत बाजी प्रेम।
देखत वाको रस रसन तजत नैन व्रत नेम ॥

४६. चीतावानी— चीतावानी देखि कै, बिरही रहे लुभाय।
गाड़ी को चीतो मनो, चलै न अपने पाय ॥

४७. कठिहारी— कठिहारी उर की कठिन, काठपूतरी आहि।
छिनक न पिय सँगते टरैं, बिरह फँदै नहि ताहि ॥

४८. घासिनि— घासिनि थोरे दिनन की, बैठी जोबन त्याग।
थोरे ही बुझ जात है, घास जराई आगि ॥

४९. डफालिनी— रीझी रहै डफालिनी, अपने पिय के राग।
ना जानै संयोग रस, ना जाने बैराग ॥

५०. गड़िवारिन— बिरही के उर में गड़े, गड़िवारिन को नेह।
शिव वाहन सेवा करै, पावैं सिद्धि सनेह ॥

५१. महावतिन— बैठी महत महावतिन धरैं जु आपन अंग।
जोबन मद मैगलि चढ़ी, फिरैं जु पिय के संग ॥

५२. नालबंदिनी— नालबंदिनी रैन दिन, रहै सखिन के नाल।
जोबन अंग तुरंग की, बाँधन देइ न नाल ॥

५३. चिरवादारिन—चोली माँहि चुरावई, चिरवादारिन नित्त।
फेरत वाके गात पर, काम खरहरा चित्त ॥

५४. धोबिन— धोबिन लुबदी प्रेम की, ना घर रहै न घाट।
देत फिरैं घर घर बगर, लुगरा धरै लिलाट ॥

५५. चमारिनी — **चोरत चित्त चमारिनी, रूप रंग के साज।**
लेत चलाये चाम के, दिन द्वै जोबन राज ।।

५६. चूहरी— **हरी भरी गुन चूहरी देखत जीव कलंक।**
वाके अधर कपोल कौ चुवौ परै जिमि रंग ।।

कवि रहीम ने इस नगर-शोभा के दोहों में तत्कालीन समाज की विविध जातियों की नारियों का ही सौन्दर्य-चित्रण किया है। प्रश्न यह उठता है कि नगर-शोभा में क्या नारियाँ ही नारियाँ हैं, शोभा की कोई अन्य वस्तु नहीं है ? अथवा केवल स्त्रियों की शोभा से ही नगर-शोभा है ? क्या इसीलिए शृंगार रस से परिपूर्ण विविध नारियों के शब्द-चित्र इस रूप में उपस्थित किये गये हैं ? मेरा अनुमान है कि अकबर के समय में किसी मीना बाज़ार में प्रवेश कर कवि रहीम ने जब विविध व्यवसायों में सुशोभित अपना-अपना सामान बेचने वाली नारियों को देखा होगा, तभी एक-एक नारी को लक्ष्य कर उन्होंने इन दोहों की रचना की होगी तथा मीना बाज़ार की सजी हुई इन नारियों को ही उन्होंने नगर-शोभा के अंतर्गत माना होगा। यही कारण है कि प्रत्येक शब्द-चित्र में विविध व्यवसायों की नारियों के कार्य-व्यापार, उनकी भाव-भंगी, उनका शृंगार उन्हें जातिगत विशेषताओं के रूप में उपस्थित करता है। श्लेष अथवा मुद्रा द्वारा ऐसे विशिष्ट शब्दों का प्रयोग किया गया है कि उन नारियों का व्यवसाय जैसे उनमें रूपांतरित हो गया है। इसके द्वारा कवि रहीम की लौकिक शृंगारमयी दृष्टि का यथेष्ट परिचय मिलता है। इस नगर-शोभा के दोहों का साहित्यिक महत्त्व तो है ही, तत्कालीन समाज के व्यवसायों का भी पूर्ण विवरण ज्ञात हो जाता है, इस दृष्टि से इनका ऐतिहासिक महत्त्व भी है।

जैसे कवि रहीम ने नगर की इस शोभा में विविध वर्गों और जातियों का चित्रण किया है, उसी भाँति कवि दीनदयाल गिरि ने भी अपने 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' की तीसरी शाखा में मनुष्य जाति-विशेष के अन्तर्गत विविध वर्णो और व्यवसायियो पर प्रकाश डाला है। दीनदयाल गिरि बाल ब्रह्मचारी सन्यासी थे। उन्होंने बीस वर्ष की अवस्था में ही अपने गुरु कुशागिरि से सन्यास लेने की आज्ञा प्राप्त कर ली थी। ऐसी स्थिति में उनके चित्रण में और कवि रहीम के चित्रण में आकाश-पाताल का अन्तर है। दीनदयाल गिरि प्रत्येक व्यवसाय को उपदेश देते हुए तथा उनसे जीवन की शिक्षा लेते हुए ही वैराग्यपूर्ण चित्र उपस्थित करते हैं। उन्होंने मनुष्य जाति-विशेष में जिन वर्गों को लिया है, उनके नाम इस प्रकार हैं :—

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, माली, कुलाल, दरजी, रजक, नट, दारु नटी (कठ-पुतली), नटी, ग्वालिनी, किरातिनी, पनिहारिन, तमोलिनी, किसान, गढ़धनी, चौपर-खिलारी, चंग-उड़ायक, जौहरी, सौदागर, चित्रकार, पाहरू, छैल और बजंत्री। इन

चौबीस वर्गों में उन्होंने सर्वत्र उपदेश की शैली में ही इन व्यवसायियों अथवा वर्ग-जनों का चित्रण किया। ये चित्र कुंडलिया छन्द में उपस्थित किए गए हैं, इसलिए विस्तार-भय से सभी के उदाहरण नहीं दिये जा सकते, किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से व्यवसाय में रत जिन नारियों के चित्र कवि रहीम ने उपस्थित किए हैं, उन्हें ही दीनदयाल गिरि की रचनाओं में देखिए :—

नटी (रहीम के अनुसार नटिनी)

नीकी विधि चलि री नटी, अति सूक्षम यह राह।
राम राम मुख, ध्यान पग, ह्वै है तबै निबाह॥
ह्वै है तबै निबाह, सबै गो गोचर अपने।
बस करि कँ चल सूध, नहीं चित चालै सपने॥
बरनै दीन दयाल डिगे फिर खोजन जी की।
ये सब देखनिहार, न दैहैं उपमा नीकी॥ (३-१६५)

ग्वालिनी (रहीम के अनुसार गूजरी)

बारि बिलौवे डारि दधि, अरी आँधरी ग्वारि।
ह्वै है श्रम तेरो वृथा नहि पैहैं घृत हारि॥
नहि पैहैं घृत हारि हँसैगी सखी सयानी।
तू अपने मन मान रही घर की ठकुरानी॥
बरनै दीनदयाल कहा दिन योंही खोवैं।
पछतैहै री अंत कंत ढिग बारि बिलौवैं॥ (३-१६६)

दारुनटी (कठपुतली रहीम के अनुसार कठिहारी)

तेरी है कछु गति नहीं, दारु चीर को मोल।
करै कपट पट ओट मैं, वह नट सबही खेल॥
वह नट सब ही खेल, खेलि फिर दूर रहै है।
द्वै बिन बनै प्रपंच कहो को कूर कहै है॥
बरनै दीनदयाल, कला वा पै बहुतेरी।
जो जो चाहै नाँच, कढ़ै सो सो गति तेरी॥ (३-१६४)

पनिहारिन (रहीम के अनुसार सक्किन)

पनिहारिन इहि सर परे, लरति रही सब पाँह।
रीतौ घट लै घर चली, उतै मारिहै नाँह॥
उतै मारिहै नाँह, काह तिहि उत्तर दैहै।
रोय रोय पति खोय, फेरि सर पै फिरि ऐहै॥

बरनै दीनदयाल, इतै हँसिहैं सब नारी।
ग्वारी दुहुँ दिसि परी, अरी ग्वारी पनिहारी ॥ (३-१६८)

तमोलिनी (रहीम के अनुसार बरइन)

बौरी दौरी में धरे, बिन सींचे मति भूल।
फेरै क्यों न तमोलिनी, सूखै सड़ै तमूल ॥
सूखै सड़ै तमूल, बहुरि पीछे पछितैहै।
ऐहै गाहक लैन, कहा तब ताको दैहै ॥
बरनै दीनदयाल, चूक जनि तू इहि ठौरी।
आछी भाँति सुधारि, वस्तु अपनी रखि बौरी ॥

शेष व्यवसायों में दीन दयाल गिरि ने पुरुषों का ही उल्लेख किया है। जहाँ रहीम ने पातुरी का चित्रण किया है, वहाँ दीनदयाल गिरि ने छैल का चित्र उपस्थित किया है :—

ए जू छैल छबील मन, तुमैं कहौं समझाय।
यह काजर की ओबरी, निकरो अंग बचाय ॥
निकरो अंग बचाय, चातुरी तो जग जागै।
सिर पै चादर सेत, बीच जो दाग न लागै ॥
बरनै दीनदयाल, बोध यह बुध न दये जू।
को न कुसंगति पाय, कुलीन मलीन भये जू ॥

इस भाँति यह स्पष्ट है कि दीनदयाल गिरि ने प्रत्येक व्यवसायी को पारमार्थिक उपदेश दिए हैं। इन व्यवसायियों के चित्रण से भी दीन दयालगिरि के समय (सं० १८५६-१९२२) की सामाजिक स्थिति का संकेत मिलता है किन्तु उनके चित्रण में शृंगार की अपेक्षा ज्ञान और वैराग्य का उपदेश ही देखा जा सकता है।

महाकवि देव ने भी देश-जाति के चित्रण में अनेक प्रान्तों तथा अनेक व्यवसाय की नारियों का चित्रण किया है किन्तु उनके चित्रण में नायिका-भेद की शैली में अलङ्कारों के माध्यम से सौंदर्यपूर्ण चित्र ही उपस्थित किये गये हैं। उनके व्यवसाय का संकेत मात्र ही किया गया है, शेष वर्णन में वे किसी भी प्रकार की नायिकाएँ कही जा सकती हैं। उदाहरण-स्वरूप उनके कुछ चित्र देखिए :—

गुजरात की नारी

छिति कैसी छोनीं, रूप रासि की पकोनी गढ़ि,
गढ़ी विधि सोनी गोरी कुन्दन से गात की।

देव दुति दूनी दूनी दिन दिन होनी और,
ऐसी अनहोनी कहूँ कोई दीप सात की।
रति लागो बौनी, जाकी रंभा रुचि पौनी लोच—
ननि ललचौनी मुखजोति अवदात की।
इंदिरा अगौनी, इंदु इंदीवर बौनी महा
सुंदरि सलौनी, गज-गौनी गुजरात की[1] ॥ (२६१)

कशमीर की नारी

जोवन के रंग भरी ईंगुर से अंगनि पै,
एँड़िन लौं आँगो छाजै छबिन की भीर की।
उचके उचौंहें कुच, झपे झलकत झीनी,
झिलमिली ओढ़नी, किनारीदार चीर की।
गुलगुले गोरे गोल कोमल कपोल, सुधा-
बिन्दु बोल इंदुमुखी नासिका ज्यों कीर की।
देव दुति लहराति छूटे छहरात केस,
बोरी जैसे केसरि किसोरी कासमीर की[2] ॥ (२६२)

असम की नारी

तीनिहू लोक नचावति ऊक मैं मंत्र के सूत अभूत गती है।
आपु महा गुनवंत गुसायनि, पायनि पूजत प्रानपती है।
पैनी चितौनि चलावति चेटक को न कियो बस योगि यती है।
कामरू कामिनि काम-कला जग मोहनि भामिनि भानमती है[3] ॥ (२६३)

नटनी

पातरे अंग उड़ै बिन पंखन, कोयल बानि चबानि बिरी की।
जोबन रूप अनूप निहारि कै लाज मरै निधिराज सिरी की।
कौंल से नैन कलानिधि सो मुख कोटि कला गुन की गहिरी की।
बाँस के सीस अकास पै नाचति को न छक्यों छबि सोनचिरी की[4] ॥

---

१. देवसुधा—मिश्रबन्धु, (१९६२) देव सुकवि सुधा कार्यालय, लखनऊ, पृष्ठ १६३
२. वही पृष्ठ १६४
३. वही पृष्ठ १६५
४. वही पृष्ठ १६५

अहीरिन

माखन सो मन दूध सो जोबन, है दधि ते अधिकै उर ईठी।
जा छबि आगे छपाकर छाँछ बिलोकि सुधा बसुधा सब सीठी।
नैनन नेह चुवैं कहि देव, बुझावति बैन बियोग अँगीठी।
ऐसी रसीली अहीरी अहो, कहो क्यों न लगै मनमोहनै मीठी[1] ॥

खत्रानी

ज्यों बिन ही गुन अंक लिखै घुन यों करिकै करता कर झार्‌यो।
वारिए कोटि सची रति रानी इतो खतरानी को रूप निहार्‌यो।
देव सुबानक देखि अचानक, आन कहूँन को आनक मार्‌यो।
लाज लचै तिय आन रचै तौ पचै बिन काज विरंचि विचार्‌यो[2] ॥

सुनारिन

देव दिखावति कंचन सो तन औरन को मन तावै अगोनी।
सुंदरि साँचे में दै भरि काढ़ी सी आपने हाथ गढ़ी विधि सोनी।
सोहति चूनरि स्याम किसोरी कि गोरी गुमान भरी गज गोनी।
कुंदन लीक कसौटी में लेखी सी देखी सु-नारि सुनारि सलोनी[3] ॥

बनजारिन

ऐंड़िन ऊपर घूमत घाँघरो तैसिए सोहति सालू की सारी।
हाथ हरी हरी छाजै छरी अरु जूती चढ़ी पग फूंद फुंदारी।
ऊँचे उरोज हरा घुंघचीन के, हाँ कहि हाँकति बैल निहारी।
गात नहीं दिलराय बटोहिन, बातन ही बनिजै बनिजारी[4] ॥

जौहरिन

सींची सुधा-बुन्दन सों कुंदन की बेलि, किधौं,
साँचे भरि काढ़ी रूप ओपनि भरत है।
पोखी पुखरागन बपुख नख सिख कर,
चरन अधर विद्रुमनज्यों धरति है।

---

१. देवसुधा पृष्ठ १६५
२. वही पृष्ठ १६६
३. वही पृष्ठ १६६
४. वही पृष्ठ १६७

हीरा सी हँसनि मोती मानिक दसन स्वेत,
स्यामता लसनि दृग हियरा हरति है।
जोबन जवाहिर सों जगमग होइ, जोइ
जौहरी की जोई जग जौहर करति है ॥[१]

गंधिनि

अरगजे भीजी मरगजे बागे बनी ठनी,
हाट पर बैठी अति ही सुघरपन सों।
इंदु से बदन, मृगमद बुन्द बेंदी भाल,
झलक कपोल गोल दूने दरपन सों।
मैन मद छाके नैन देव मुनि मोहैं सैन,
मोहैं सटकारे बार कारे सरपन सों।
बंधु किये मधुप मदंध किए बंधु जन,
बँध्यो मन गंधी को सुगंध झरपन सों ॥[२]

लौड़ी (सेविका)

दंपति एक ही सेज परे पग पींडुरि दावि दूहूँ को रिझावति।
आपने ओछे उठोहैं कठोर उरोजन को भलै एंडी मिलावति ॥
भौहें उमेठि रहैं ठकुराइनि, ठाकुर के उर काम जगावति।
लौंडी अनोखी लड़ाइते लाल को पाँय पलोटै कि चोटै चलावति ॥[३]

तेलिन

तिल है अमोल लोल नैनी के कपोल गोल,
बोलत अमोल, उन बारि फेरियत है।
सोभा सुने जाकी कवि देव कहै को न को न,
होत चित चोकनों चतुर चेरियत है।
घाट बाट हू में घट निपट वटोहिन के,
नेक हीं निहारे नेह भरे हेरियत है।
सरस निदान ताके दरस की कौन कहै,
पौन हूँ के परस परोसी पेरियत है ॥[४]

---

१. देवसुधा पृष्ठ १६७
२. वही पृष्ठ १६८
३. वही पृष्ठ १६८
४. वही पृष्ठ १६८-१६९

इन उदाहरणों में कवि ने वर्णन-वैचित्र्य में जो सूक्ति-चमत्कार उपस्थित किया है वह लोक-जीवन की स्वाभाविक भंगिमा की अपेक्षा कवि की काव्य-कला और कल्पनाशक्ति का ही परिचायक है। अपने व्यवसाय की किसी प्रमुख विशेषता को काव्य के साँचे में ढालने की अपूर्व शक्ति कवि के पास है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

वीर रस के कवियों ने यों तो अपने चरित-नायकों के व्यक्तिगत गुणों का विस्तार से चित्रण किया है तथापि जहाँ कहीं उन्हें सामान्य जनों की मनःस्थिति के चित्रित करने का अवसर मिला है, वहाँ उन्होंने उसे काव्य में स्थान अवश्य दिया है। लेकिन सामान्य जनों के ये चित्र प्रकारान्तर से अपने चरित-नायक के वीरत्व-वर्णन के संदर्भ में ही उपस्थित हुए हैं। चरित-नायक का इतना आतंक है कि शत्रु तो शत्रु, शत्रु के पक्ष के सामान्य जन तक इतने दुःखी और चिन्तित हो गये हैं कि उन्हें अपने प्राणों की रक्षा करना भी कठिन ज्ञात होता है। महाकवि भूषण में ऐसे आतंक के अनेक चित्र मिलते हैं। एक चित्र निम्नलिखित है :—

बाजि गजराज सिवराज सैन साजत ही,
दिल्ली दिलगीर दसा दीरघ दुखन की।
तनियाँ न तिलक सुथनियाँ पगनियाँ न,
घामें घुमरात छोड़ि सेजियाँ सुखन की।
भूषन भनत पति बाँह बहियाँ न तेऊ,
छहियाँ छबीली ताकि रहियाँ रुखन की।
बालियाँ बिथुर जिमि आलियाँ नलिन पर,
लालियाँ मलिन मुगलानियाँ मुखन की॥[1]

छत्रपति शिवाजी के आतंक के अनेकानेक वर्णन इसी प्रकार महाकवि भूषण ने 'शिवाबावनी' या 'शिवराज भूषण' में किये। सबसे प्रभावशाली और वर्णन-वैचित्र्य से परिपूर्ण वर्णन वीर रस के कवि सूदन ने किया है। अपने ग्रन्थ 'सुजान चरित' में कवि सूदन ने दिल्ली के बाजार पर अपने आश्रयदाता महाराज सूरजमल के आक्रमण का वर्णन बड़ी सजीव शैली में किया है। उसी सन्दर्भ में अनेक जाति की स्त्रियों की करुण दशा का वर्णन कवि सूदन ने बड़े विस्तार से किया है। इस वर्णन में उन्होंने विविध जातियों की स्त्रियों की परिस्थिति उनकी जनपदीय बोलियों में ही की है।

खतरानियों का वर्णन पंजाबी में

डोलती डरानी खतरानी बतरानी बेवे
कुडिएन वेखी अणी भी गुरुन पावा हाँ।

---

१. शिवाबावनी (भूषण)

किस्थे जला पेव किस्थे उज्जले भिड़ाउ असी,
तुसी को लग्गीवाँ असी जिन्दगी बचावाहाँ।
भट्ट ररा साहि हुआ चंदला वजीर वेखो,
एहा हाल कीता वाह गुरुनू मनावांहाँ।
जाँवां किस्थे जावां अम्मां बावे केही पावां जली,
एही गल्ल अब्वें लब्वी लब्यौं गली जावां हाँ ॥

गुर्जर स्त्रियों का वर्णन गुजराती में

आव्या तमें आगल न ल्याव्या माटी कागल नै,
डालगा नड़ीदू कौकठा भरून लीद्यूं छै।
डीकरी न छैया सार्थं, मोंकल्या न भाभी हाथैं,
घरणू न आथे भूड़ा पौतियों न दीघ्यूं छै।
हूलरू हम्हांरू बाट मांहे जारे आवी ज्यों यूं,
हहरू हमारू पूठी पेला माहं बीघ्यूं छै।
चीघू छै न पाहै सीघू खावानैं न हा है हवै,
सिवजी सहा है जिनैं एवूं हाल कीघ्यूं छै ॥

मारवाड़ी स्त्रियों का वर्णन मारवाड़ी में

कौठे रह्या ठांकरां अठांकरां पधार्‌या वीरां,
चाकरा न लावैं म्हें उभारैं पग धावां छां।
जाया काट्या जाटरां जनायौ छै जुलम ऐठैं,
जेठैं तेढे म्होंवी तो सवाईरा कहांवां छां।
जिसी मालिवाजी तिसी गली चली बाजी,
म्होतो टारडा न टारडी अंवार कोट्याँ पावां छां।
काकाजी का गलाका अगारओ जौ बाई जी थे,
ल्यावां छां जो ल्यावां कोई आवांछां जी आवां छां ॥

मुसलमान स्त्रियों का वर्णन उर्दू में

महल सराइ सैरवाने बूआ बूबू करो,
मुझे अपसोच बड़ा बड़ी बीबी जानी का।
आलम में मालुम चकत्ता का घराना यारो,
जिसका हवाल है तनैया जैसा तानी का।
खाने खाने बीच सें अमानें लोग जाने लगे,
आफ़त ही जानों हुआ ओज दहकानी का।

रब की रजा है हमें सहना बजा है वक्त
हिन्दू का जगा है आया और तुरकानी का।

उत्तर प्रदेश की स्त्रियों का वर्णन अवधी में

बबुआ न आवा मोर भैयन न पावा याक
तुपक्की न लावा गाँढि डीबु आ न छावा है।
चाकरी की लकरी की फकीरी बिहानी कीन्ह,
मनई न कनई दिहांनियां बतावा है।
अस कस कीन्ह भ्वार दिल्ली का नबाव ख्वार,
चीन्हत न सार मनसूर जट्ट ल्यावा है।
तुहिका न मुहिका कही लुहिकां रही न जोग,
भाग कुल और तोपखाना बाँध ल्यावा है॥

बुंदेलखंड की स्त्रियों का वर्णन बुन्देली में

कैहां जैहों कैहां जैहों तैहां तें न ऐहां आऔ,
देखन त बैहों क्यों ललाजू उभरानैं हौ।
ऐयां बैयां गैया लै लुगैयां लैंया पैयां चलौ,
वारौ न अथैयां कहूँ जाट खुभरानैं हौ।
कैसी करी मैया मोड़ा मोड़ी न कन्हैयां घर,
खात है लुचैंया कभू पेट न भराने हौ।
चैयां चैयां गहौ नैंयां नैयां ऐसे बोलो बढ़ि,
दैया करी दैया हमें काहे छुभराने हौ॥

कला-काल में चरित-काव्य के कवियों ने अपने वर्णन-विस्तार में कहीं-कहीं लोक-जीवन के बड़े सच्चे चित्र खींचे हैं। यद्यपि इन चरित-काव्यों में प्रधान रूप से आध्यात्मिक जीवन की पुष्टि करते हुए भक्ति और उपासना की विधि और वीरत्व-चित्रण में चरित-नायकों का व्यक्तिगत शौर्य और उत्साह ही अंकित करने का प्रयत्न किया गया है, तथापि कथा के प्रवाह में लोक-जीवन से भी वैचित्र्य उपस्थित करने की दृष्टि रही है। उदाहरण के लिए नरोत्तमदास ने अपने चरित-काव्य सुदामा-चरित में दैन्य और विपन्नावस्था के जो चित्र खींचे हैं, वे लोक-जीवन के कितने मार्मिक प्रसंग हैं। सुदामा की पत्नी कहती है—

कोदों सवाँ जुरतो भरि पेट,
न चाहति हौं दधि-दूध मिठौती।

सीत बितीत भयो सिसियातहि
हौं हठती पै तुम्हें न पठौती ॥
जौ जनती न हितू हरि सों,
तुम्हें काहे को द्वारिका ठेलि पठौती।
या घर ते न गयो कबहूँ, पिय!
टूटो तवा अरु फूटी कठौती ॥१३॥

इसका उत्तर सुदामा किस व्यंग्य से देते हैं !

छाँड़ि सबै जक तोहि लगी बक
आठहु जाम यहै जिय ठानी।
जातहिं दैहैं लदाय लढ़ा भरि
लैहौं लदाय यहै जिय जानी ॥
पैहौं कहाँ ते अटारी अटा,
जिनके विधि दीनी है टूटी सी छानी।
जो पै दरिद्र लिखो है लिलार
तौ काहू पै मेटि न जात अजानी ॥

लोक-जीवन का वास्तविक अंतदर्शन उन कवियों के काव्य में मिलता है जिन्होंने ग्राम्य-जीवन के विविध प्रसंगों को ग्राम्य-दृष्टि से ही देखा है। ऐसे कवियों के नाम जो प्रमुख रूप से सामने आते हैं, वे हैं घाघ और भड्डरी। इन्होंने नीति के माध्यम से सामान्य जीवन के अनेकानेक प्रसंग बड़े मार्मिक ढंग से वर्णित किए हैं। घाघ ने सम्पूर्ण जीवन का विश्लेषण किया है किन्तु भड्डरी ने कृषि और ज्योतिष को ही प्रधान रूप से अपने काव्य में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। दोनों कवियों की रचना में ग्रामीण भाषा में ग्रामीण दृष्टि से जीवन के सभी अंगों और उपांगों की चर्चा है। घाघ ने जिन विषयों पर प्रकाश डाला है वे संक्षेप में निम्नलिखित हैं :—

जाति, राजा, मंत्री, सम्बन्धी, स्त्री, वेश्या, गृहस्थी की चीजें, खेती, बैल, गाय, घोड़ा, व्यवहार, भोजन, वस्त्रादि, साधू, चोर, स्वास्थ्य आदि।

जाति और व्यवसाय

(१) बनियक सखरच ठकुरक हीन। बइद क पूत बिआधि नहीं चीन।
पंडित चुपचुप बेसवा मइल। कहैं घाघ पाँचों घर गइल।[1]

१. घाघ और भड्डरी (रामनरेश त्रिपाठी)—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद १९४९, पृष्ठ २८।

(२) कोदौ मडुवा अन नहीं। जोलहा धुनियाँ जन नहीं ॥

(३) घाघ बात अपने मन गुनहीं। ठाकुर भगत न मूसर धनुहीं।

(४) हँसुआ ठाकुर खँसुआ चोर। इन्हें ससुरवन गहिरे बेर ॥

(५) अम्बा नीबू बानियाँ गर दाबे रस देयँ।
कायथ कौवा करहटा, मुर्दाहू सों लेयँ ॥

(६) अहीर मिताई बादर छाई। होवै होवै नाही नांई ॥

(७) जहाँ चारि काछी। उहाँ बात आछी ॥
जहाँ चारि कोरी। उहाँ बात बोरी ॥
जहाँ चारि भुंजी। उहाँ बात उंझी ॥

(८) सावन भैंसा माघ सियार। अगहन दरजी चैत चमार।

(९) छीपा छेरी ऊँट कुहाँर। पीलवान और गाड़ीवान।
आक जवासा वेस्वा बानी। दस मलीन जब बरसै पानी ॥[1]

राजा

(१) गया राज जहाँ राजा लोभी। गया खेत जहँ जामी गोभी।[2]

(२) निहपछ राजा मन हो हाथ। साधु परोसी नीमन साथ।
कहै घाघ हम करत विचार। बड़े भाग से दे करतार ॥[3]

(३) चाकर चोर राज बेपीर। कहै घाघ का धारी धीर।[4]

मंत्री

(१) ओछो मंत्री राजै नासै, ताल बिनासै काई।
सान साहबी फूट बिनासै, घग्घा पैर बिवाई ॥[5]

सम्बन्धी (पुत्र, पुत्री, भाई, स्त्री, दामाद, साला, पतोहू, मित्र)

(१) हुक्मी पूत, धिया सतवार। तिरिया-भाई रखे बिचार।
कहैं घाघ हम करत विचार। बड़े भाग से दे करतार ॥[6]

(२) पूत न मानै आपन डाँट। भाई लड़ै चहै नित बाँट ॥
तिरिया कलही करकस होइ। नियरा-बसल दुहुट सब कोई।
मालिक नाहिन करै विचार। घाघ कहैं ई बिपति अपार ॥[7]

---

(१) घाघ और भड्डरी पृष्ठ ८१, (२) वही पृष्ठ ३१, (३) वही पृष्ठ ३३, (४) वही पृष्ठ ३५, (५) वही पृष्ठ ३७, (६) वही पृष्ठ ३३, (७) वही पृष्ठ ३५

(३) नसकट पनही बतकट जोय । जो पहलौठी बिटिया होय ।
पातरि कृषी बौरहा भाय । घाघ कहैं दुख कहाँ समाय ।।[१]

(४) परहथ बनजि सँदेसे खेती । बिन बर देखे ब्याहै बेटी ।
द्वार पराये गाड़ै थाती । ये चारों मिलि पीटैं छाती ।।[२]

(५) नारि करकसा कट्टर घोर । हाकिम होइ के खाइ अँकोर ।
कपटी मित्र, पुत्र है चोर । घग्घा इनको गहिरे बोर ।।[३]

(६) चना क खेती चिक्कघन, बिटिअन कै बढ़वारि ।
यतनहु पर धन ना घटै, तो करै बड़े से रारि ।।[४]

(७) घर घोड़ा पैदल चलै, तीर चलावै बीन ।
थाती धरै दमाद घर, जग में भकुवा तीन ।।[५]

(८) उधार काढ़ि व्यौहार चलावै छप्पर डारै तारो ।
सारे के सँग बहिनी पठवै, तीनिउ को मुँह कारो ।।[६]

(९) ढीठ पतोहु धिया गरियार । खसम बेपीर न करै विचार ।
घरे जलावन, अन्न न होइ । घाघ कहै सो अभागी जोइ ।।[७]

स्त्री

(१) बाछा बैल बहुरिया जोय । ना घर रहे न खेती होय ।।[८]

(२) खाँड दही जो घर में होय । बाँके नैन परोसै जोय ।।[९]

(३) बगड़ बिराने जो रहे । मानै त्रिया की सीख ।
तीनों योंही जायँगे । पाही बोवै ईख ।।[१०]

(४) बैल बगोधा निरघिन जोय । वा घर ओरहन कबहुँ होय ।।

(५) बैल चौंकना जोत में औ चमकीली नार ।
ये बैरी हैं जान के, कुसल करैं करतार ।।[११]

(६) जोइघर वंसगर बुझगर भाय । तिरिया सतवँति नीक सुभाय ।
धन पुत हो मन होइ बिचार । कहैं घाघ ई सुक्ख अपार ।।[१२]

(७) झिलँगा खटिया बातलि देह । तिरिया लम्पट हाटे गेह ।
बेगा बिगरि कै मुदई मिलन्त । कहैं घाघ ई विपतिक अन्त ।।[१३]

---

(१) घाघ और भड्डरी पृष्ठ ३१, (२) वही पृष्ठ ३०, (३) वही पृष्ट ३४, (४) वही पृष्ठ २८, (५) वही पृष्ठ २८, (६) वही पृष्ठ ३३, (७) वही पृष्ठ ३२, (८) वही पृष्ठ ३३, (९) वही पृष्ठ ३३, (१०) वही पृष्ठ ३४, (११) वही पृष्ठ ३५, (१२) वही पृष्ठ ४०, (१३) वही पृष्ठ ४० ।

(८) साँझै से परि रहती खाट । पड़ी भड़ेहरि बारह बाट ॥
तिरिया कलही करकस होइ । नियरा बसल दुहट सब कोइ ।
मालिक नाहिन करै विचार । घाघ कहै ई विपति अपार ॥[1]

(९) घर में नारी आँगन सोवै । रन में चढ़ि के छत्री रोवै ।
रात को सतुवा करै बियारी । घाघ मरै तेहि कर महतारी ॥[2]

(१०) काँटा बुरा करील का औ बदरी का घाम ।
सौत बुरी है चून की औ साझे का काम ॥[3]

वैश्या

(१) आलस नींद किसानै नासै, चोरै नासै खाँसी ।
अँखिया लीवर बैसवै नासै, बावै नासै दासी ॥[3]

गृहस्थी की चीजें—(खटिया, बैल, गाय, घोड़ा, भोजन, वस्त्रादि, ताला, ब्योहार)

(१) नसकट खटिया दुलकन घोर । कहैं घाघ यह विपतिक ओर ॥[4]

(२) झिलगा खटिया बातलि देह । तिरिया लम्पट हाटै गेह ॥[5]

(३) भुइयाँ खेड़े हर ह्वै चार । घर होय गिहथिन गऊ दुधार ॥
अरहर की दाल, जड़हन क भात । गागल निबुआ औ घिउ तात ॥
खांड़ दही जो घर में होय । बाँके नैन परोसे जोय ॥
कहैं घाघ तब सबही झूठा । उहाँ छाँड़ि इहवै बैकूंठा ।[6]

(४) बूढा बैल बिसाहै, झीना कपड़ा लेय ।
आपुन करै नसौनी देवै दूषन देय ॥[7]

(५) खेती पाती बीनती औ घोड़े का तंग ।
अपने हाथ सँवारिये, लाख लोग हों संग ॥[8]

(६) आठ कठौती माठा पीवै, सोरह मकुनी खाय ।
उसके मरे न रोइये, घर क दलिदर जाय ॥[9]

(७) तीन बैल दो मेहरी । काल बैठ वा डेहरी ॥[10]

(८) जाको मारा चाहिए, बिन मारे, बिन घाव ।
वाको यही बताइये, घुइयाँ पूरी खाव ॥[11]

---

(१) घाघ और भड्डरी पृष्ठ ४०, (२) वही पृष्ठ ३०, (३) वही पृष्ठ २८, (४) वही पृष्ठ ३४, (५) वही पृष्ठ २८, (६) वही पृष्ठ २२, (७) वही पृष्ठ ३२, (८) वही पृष्ठ ३७, (९) वही पृष्ठ ४२, (१०) वही पृष्ठ ४३, (११) वही पृष्ठ २९ ।

(९) मुये चाम से चाम कटावै, भुँइ सकरी माँ सोवै ।
घाघ कहैं ये तीनों भकुवा, उढ़रि गये पर रोवै ।।[१]

(१०) सुथना पहिरे हर जोतै, औ पौला पहिरि निरावै ।
घाघ कहै य तीनों भकुवा, सिर बोझा औ गावै ।।[२]

(११) उधार काढ़ि ब्यौहार चलावै छप्पर डारै तारो ।
सारे के सँग बहिनी पठवै, तीनऊँ को मुख कारो ।।[३]

खेती

(१) आलस नींद किसानै नासै, चोरै नासे खाँसी ।
अँखिया लीबर बेसवै नासै, बावै नासै दासी ।।[४]

स्वास्थ्य

(१) सावन हरैं भादो चीत । क्वार मास गुड़ खायउ मीत ।।
कातिक मूली, अगहन तेल । पूस में करै दूध से मेल ।।
माघ मास घिउ खिचरी खाय । फागुन उठि कै प्रात नहाय ।।
चैत मास में नीम बेसहनी । बैसाखे में खाय जड़हनी ।।
जेठ मास जो दिन में सोवै । ओकर जर असाढ़ में रोवै ।।[५]

इसी प्रकार भड्डरी ने लोक-जीवन का आधार लेकर ज्योतिष और शकुनों पर बड़े विस्तार से प्रकाश डाला है । भू-मण्डल, तारा, नक्षत्र, बादल, वायु, बिजली, दिन, रात की परिस्थिति मानव-जीवन की सुख-सुविधाओं में किस प्रकार घटित होगी, इसका विस्तार से उल्लेख किया गया है । इसी भाँति पशु, पक्षी-जीव, जन्तु आदि के बोलने, चीखने, चलने-फिरने आदि के आधार पर शकुन और अपशकुन की बातें कहीं गई हैं । दो एक उदाहरण पर्याप्त होंगे ।

ज्योतिष

सुक्कर वारी बादरी, रही सनीश्चर छाय ।
तो यों भाखै भड्डरी, बिन बरसे नहिं जाय ।।
मघादि पंच नछत्तरा, भृगु पच्छिम दिसि होय ।
तो यो जानों भड्डरी, पानी पृथी न जोय ।।[५]

शुकुन

(अकाल) रात्या बोलै कागला, दिन में बोलै स्याल ।
तो यों भाखै भड्डरी, निहचै परै अकाल ।।[६]

---

(१) घाघ और भड्डरी पृष्ठ २९, (२) वही पृष्ठ ३०, (३) वही पृष्ठ ३०, (४) वही पृष्ठ ३३, (५) वही पृष्ठ १०९, (६) वही पृष्ठ १०९ ।

(छत्र नाश) पाँच सनीचर, पाँच रवि, पाँच मँगर जो होय।
छत्र टूटि धरनी परैं, अन्न जु महँगो होय ॥[१]

(यात्रा) बिना तिलक का पाँड़िया, बिना पुरुष की नार।
बायें भले न दायें, सीन्याँ, सर्प, सुनार ॥[२]

(वस्त्रधारण) कपड़ा पहिरै तीन बार। बुद्ध, बृहस्पत, सुक्रवार।
हारे अबरे का इतवार। भड्डर का है यही विचार ॥[३]

(छींक) सनमुख छींक लड़ाई भाखै। पीठि पाछिली सुख अभिलाखै ॥
छींक दाहिनी धन को नासै। वाम छींक सुख सदा प्रकासै ॥
ऊँची छींक महा सुभकारी। नीची छींक महा भयकारी ॥
अपनी छींक महा दुखदाई। कह भड्डर जोसी समझाई ॥
अपनी छींक राम बन गयऊ। सीता हरन तुरंतै भयऊ ॥[४]

(स्वरोदय) सूके सोमे बुद्धे वाम। यही स्वर लंका जीते राम।
जो स्वर चलै सोई पग दीजै। काहे क पंडित पत्रा लीजै ॥[५]

(यात्रा-समय) पुरुब गोधूली, पच्छिम प्रात। उत्तर दुपहर, दक्खिन रात।
का करै भद्रा, का दिकसूल। कहैं भड्डर सब चकनाचूर ॥[६]

(यात्रा के समय) रवि तामूल, सोमके दरपन। भौमवार गुर धनियाँ चरवन ॥
बुद्ध मिठाई, बिहफै राई। सुक्र कहै मिहि दही सुहाई ॥
सन्नी बाउ भिरंगी भावै। इन्द्रहिं जीति पुत्र घर आवै ॥[७]

नक्षत्र-विज्ञान, शरीर-विज्ञान और मनोविज्ञान के अनेकानेक प्रयोगों के आधार पर ज्योतिष और शकुनापशकुन की बातें कवियों के द्वारा कही हुई हैं। संभव है, इनमें अनेक बातें अंध-विश्वास समझी जावें किन्तु जिस आत्म-विश्वास और निश्चय से कवियों ने अपने कथन की पुष्टि की है, उससे ज्ञात होता है कि मनीषियों द्वारा शताब्दियों के अनुभव और परिस्थिति-अभिज्ञान में उनकी आस्था और विश्वास है। ज्योतिष तो गणना के आधार पर ही निरूपित हुआ है, नक्षत्रों की गति और उनके प्रभाव की बातें तो फलित ज्योतिष के द्वारा ही मान्य होती है किन्तु शकुनापशकुन का निर्णय प्राचीन काल से ही मान्य रहा है। अंग-स्फुरण रक्त के प्रवाह और गति के कारण समझा जा सकता है किन्तु उसका सम्बन्ध भविष्य की घटनाओं से किस प्रकार जोड़ा जा सकेगा? इसी प्रकार नकुल-दर्शन अथवा

(१) घाघ और भड्डरी पृष्ठ ११३, (२) वही पृष्ठ १३२, (३) वही पृष्ठ ११७, (४) वही पृष्ठ ११६, (५) वही पृष्ठ १२०, (६) वही पृष्ठ १२०, (७) वही पृष्ठ ११७।

स-वत्सा गऊ का सामने आना शुभ समझा गया—नकुल-दर्शन आने वाली घटनाओं के शुभ होने का प्रतीक किस प्रकार समझा जाय ! यह हो सकता है कि यह अनुभव-जनित (empirical) सिद्धान्त हो जिसके आवर्त्तन ने 'शुभ' की प्रतिष्ठा की हो !

मेरी धारणा है कि इस शकुनापशकुन का सम्बन्ध सूक्ष्म जगत् से ही जोड़ा जा सकता है जो हमारी स्थूल इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है। यदि हम श्वान में विशिष्ट घ्राण-शक्ति मानते हैं जिससे वह अपने स्वामी का अथवा किसी चोर का पता लगा सकता है तो नकुल में भी किसी भविष्य घटना का इन्द्रियजनित ज्ञान हो सकता है। वर्षा के आगमन की सूचना हम नहीं जानते, चीटियाँ जानती हैं जो वर्षागम के पूर्व ही अपने अंडे सुरक्षित स्थानों में पहुँचा देती हैं। मानव जगत् और मानवेतर जगत् प्रकृति के ही अंग हैं। यदि प्रकृति ने कुछ शक्तियाँ मानव को प्रदान की हैं तो कुछ विशिष्ट शक्तियाँ मानवेतर जगत् को भी दी हैं जिनमें सभी का अभिज्ञान हमें नहीं है। जिनके पीछे हम प्रत्यक्ष रूप से कोई कारण नहीं देखते उन्हें हम अन्ध विश्वास अथवा मूर्खता कह देने के अभ्यासी हैं। आवश्यकता इस बात की है कि सृष्टि में जो एक अन्तर्व्यापी संवेदना मानव और अमानव जगत् में समान रूप से प्रसरित हो रही है, उसका विश्लेषण करें और उसे तात्विक दृष्टि से समझ कर उस पर शकुनापशकुन की मान्यता घटित करें। प्राणि-विज्ञान से नये-नये अन्वेषण कर हम अनेक तथ्यों तक पहुँच सकते हैं।

पंचम प्रकरण

कला-काल का निष्कर्ष

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के बाद हिंदी साहित्य के इतिहास में एक ऐसी प्रवृत्ति को प्रश्रय मिला जो लौकिक जीवन के सौन्दर्य को अत्यंत अनुरंजन के साथ प्रस्तुत करने में समर्थ हुई। अभी तक जीवन की शारीरिक अनुभूतियों की ओर से कवियों ने आँखें बन्द कर ली थीं। उन्होंने संसार और शरीर को नश्वर मानते हुए ईश्वर की उपासना को ही जीवन का चरम लक्ष्य समझा था, मानवी जीवन में जैसे आध्यात्मिकता का कवच पहन कर इंद्रियों को उभरने से रोक दिया था। कला-काल ने उस कवच को उतार कर शरीर को शारीरिकता प्रदान की और नेत्रों को संसार के सौन्दर्य का वरदान दिया।

हिंदी के इतिहासकारों ने कला-काल पर असंतोष व्यक्त किया है। उससे "साहित्य के विस्तृत विकास में कुछ बाधा भी पड़ी। प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न-भिन्न चिन्त्य बातों तथा जगत् के नाना रहस्यों की ओर कवियों की दृष्टि नहीं जाने पाई। वह एक प्रकार से बद्ध और परिमित सी हो गई। उसका क्षेत्र संकुचित हो गया"[1] आदि। किंतु यदि कला-काल के साहित्य को देखा जाय तो उसमें जितनी अधिक प्रकृति की विविधरूपता है, उतनी अधिक हिंदी साहित्य के किसी काल में नहीं है। ऋतु वर्णन की शैली में प्रत्येक ऋतु का सौन्दर्य और उसका मनोभावों पर जो प्रभाव है, उसका चित्रण, संयोग और वियोग दोनों पक्षों में बड़ी सरसता के साथ चित्रित किया गया है। जीवन की भिन्न भिन्न चिन्त्य बातों पर नायक-नायिका-भेद लिखने वाले कवियों ने चाहे विशेष न लिखा हो किंतु कला-काल के राष्ट्रसेवी कवियों ने अवश्य लिखा है। **केशवदास** ने 'वीरसिंह देव चरित', **मान** ने 'राजविलास', **भूषण** ने 'शिवराज भूषण', **गोरेलाल** ने 'छत्र प्रकाश', **श्रीधर** ने 'जंगनामा', **सदानन्द** ने 'भगवन्त राय रासा', **सूदन** ने 'सुजान चरित', **जोधराज** ने 'हम्मीर रासो', **पद्माकर** ने 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' आदि रचनाओं में राजनीति के साथ पौरुषमय जीवन का जितना स्पष्ट और ओजमय चित्रण किया है वैसा चारण काल में भी संभव नहीं हो सका। इन्हीं रचनाओं में जीवन अपने वास्तविक पुरुषत्व में उपस्थित किया गया। उपर्युक्त लांछन सम्भवतः कला-काल की

---

१. हिंदी साहित्य का इतिहास- (पं० रामचन्द्र शुक्ल) पृष्ठ २८६, संशोधित संस्करण।

शृङ्गारिक रचनाओं को ही ध्यान में रखकर इस साहित्य पर लगाया गया है। मैं तो यह कहूँगा कि हिंदी साहित्य का कला-काल वस्तुतः चारण काल और भक्तिकाल की प्रेरणाओं को आत्मसात् कर जीवन के लौकिक पक्ष को कभी राजनीति और कभी प्रेम से मिलाकर अत्यंत कलात्मक रूप में उपस्थित करता है। इस दृष्टि से कला-काल की रचनाओं पर नाक भौं सिकोड़ने वाले आलोचकों को कला-काल का अध्ययन कला के सिद्धांतों को सामने रख कर करना चाहिए।

कला-काल की उपेक्षा इस कारण भी हुई है कि उसमें तुलसीदास, सूरदास और कबीर की भाँति कोई महाकवि नहीं हुआ। किंतु महाकवि किसी भी साहित्य में सदैव नहीं होते। इस दृष्टि से कला-काल भक्ति काल से हीन अवश्य है किंतु उपेक्षणीय नहीं है। उपर्युक्त महाकवियों ने अध्यात्मवाद की गहराइयों में जीवन को ले जा कर उसे पारलौकिक दृष्टि से सबल बनाया। कला-काल के कवियों ने जीवन का यह आदर्श नहीं रक्खा। उन्होंने संयम से बँधे हुए जीवन को स्वाभाविक स्फूर्ति दी। जहाँ यह स्फूर्ति कुरुचिमय है, वहाँ वास्तव में साहित्य निम्नश्रेणी का हो गया किंतु जहाँ यह स्फूर्ति सुरुचिमय है, वहाँ साहित्य ने जीवन और प्रकृति के सौंदर्य के लिए हमें एक नवीन दृष्टि प्रदान की है। मेरे लिखने का तात्पर्य यही है कि कला-काल की आलोचना करते समय हम किसी हेय दृष्टि या किसी कलुषित मनोवृत्ति से काम न लें और साहित्य में जीवन के चित्रण के प्रति उचित न्याय कर सकें।

साहित्य में लौकिक जीवन का चित्रण कोई दोष नहीं है यदि वह सुरुचिपूर्ण ढंग से हो। राधा और कृष्ण का प्रेम आत्मा और परमात्मा के मिलन का रूपक ही क्यों हो? उसमें मानवी अनुराग और आकर्षण की स्वाभाविक प्रवृत्ति क्यों न देखी जाय? और क्या यह संभव नहीं है कि अपने चरम आकर्षण में इन्द्रियों की भाषा ही आत्मा की पुकार बन जाय?

निष्कर्ष

कला-काल का समस्त साहित्य देखने के उपरान्त निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं:—

१. रीतिकाल कला-काल का एक अंश मात्र है।

२. इस काल में साहित्य शास्त्र की विशेष विवेचना हुई और रसराज 'शृंगार' रस की समस्त अनुभूतियों के सरस चित्रण प्रस्तुत किये गए। इस क्षेत्र में आचार्यों और कवियों को संस्कृत-साहित्य के रीति-ग्रन्थों से बड़ी सहायता मिली। रसवाद, अलंकारवाद और वक्रोक्तिवाद का आश्रय लेकर हिंदी कवियों ने जीवन की अनेक सरस भावनाएँ उपस्थित कीं। समस्त कला-काल की रचनाओं को मिलाकर देखने से ज्ञात होगा कि संस्कृत के काव्यशास्त्र का हिंदी में रूपान्तर हो

गया है। भक्तिकाल में भक्ति-विषयक संस्कृत रचनाओं का समस्त भाव-विन्यास हिंदी के माध्यम से प्राप्त हो ही गया था, शेष जो रह गया था, वह कला-काल के कवियों ने अपनी सरस अनुभूतियों से जोड़ कर हिंदी साहित्य में उपस्थित किया। संस्कृत साहित्य का जो संबंध हिंदी साहित्य से है उसे देखते हुए संस्कृत के काव्य-साहित्य का रूपान्तरण हिंदी साहित्य में होना आवश्यक ही था।

३. इस काल में कवित्त और सवैया शैली को विशेष प्रश्रय मिला। साथ ही साथ दोहा शैली में भी रचनाएँ हुईं। प्रथम शैली में स्फुट-काव्य लिखा गया और द्वितीय शैली में सतसई साहित्य का निर्माण हुआ। इन दोनों शैलियों के अतिरिक्त दोहा चौपाई की एक प्रबन्धात्मक शैली भी देखने को मिलती है। इस में ऐतिहासिक इतिवृत्त ही अधिक लिखे गये और चारण-कालीन साहित्य को अधिक प्रगति मिली।

४. इस काल में यद्यपि साहित्य का केन्द्र राजाओं के दरबारों में हो चला था और नागरिक जीवन का चित्रण प्रमुखता प्राप्त करने लगा था, तथापि कवियों ने प्रकृति के सौन्दर्य से आँखें बन्द नहीं कर ली थीं। ऋतुवर्णन में प्रकृति की विविधता कवियों की लेखनी से उतर कर इन्द्रधनुषी बन रही थी। प्रकृति में यद्यपि उद्दीपन की सामग्री अधिक थी फिर भी इस में जीवन की नवीनता और सजगता थी। ऋतुवर्णन पढ़ कर पाठकों के हृदय में संसार के विषाद को दूर करने की क्षमता उत्पन्न होती थी।

५. इस काल में साहित्यिक दृष्टि बहुआयामी हो गयी। जीवन जैसे भौतिक क्षेत्र का अधिनायक बन कर साहित्य के मंच पर अवतरित हुआ। वह महाकवि प्रसाद के महाकाव्य कामायनी के मनु की भाँति था।

> "अवयव की दृढ़ माँस पेशियाँ
> ऊर्धस्वित था वीर्य अपार।
> स्फीत शिराएँ, स्वस्थ रक्त का
> होता था जिनमें संचार।"

जीवन के जितने उपयोगी क्षेत्र थे, उन पर साहित्य की रचना हुई। काव्य के अतिरिक्त, आयुर्वेद, कामशास्त्र, ज्योतिष, तन्त्र-मन्त्र, धर्म, दर्शन, नीति और उपदेश पर शत-सहस्र ग्रन्थ लिखे गये जिनमें अनेक ग्रन्थ पांडुलिपियों के कारागार में बन्द हैं, अभी तक उन्हें प्रकाशन के द्वार प्राप्त नहीं हो सके। ये ग्रन्थ अनेक संग्रहालयों में देखे जा सकते हैं।

मैंने स्वयं दो हजार आठ सौ दो पांडुलिपियों की खोज कर उनका विवरण

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से 'हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की विवरणात्मक सूची' के नाम से प्रकाशित कराया है।

ये ग्रन्थ इतिहास-निर्माण की दिशा में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। इसी आधार पर यह अधिकार पूर्वक कहा जा सकता है कि संवत् १७०० से १६०० तक का जो काल अभी तक रीतिकाल के नाम से कहा जाता रहा है, उसे हिन्दी साहित्य का कला-काल कहना अधिक समीचीन और युक्तिसंगत है। कवि ने वामन से विराट बन कर जीवन के सभी क्षेत्र अपनी लेखनी के तीन चरणों से नाप लिये।

नामानुक्रमणिका